प्यार और मृत्यु

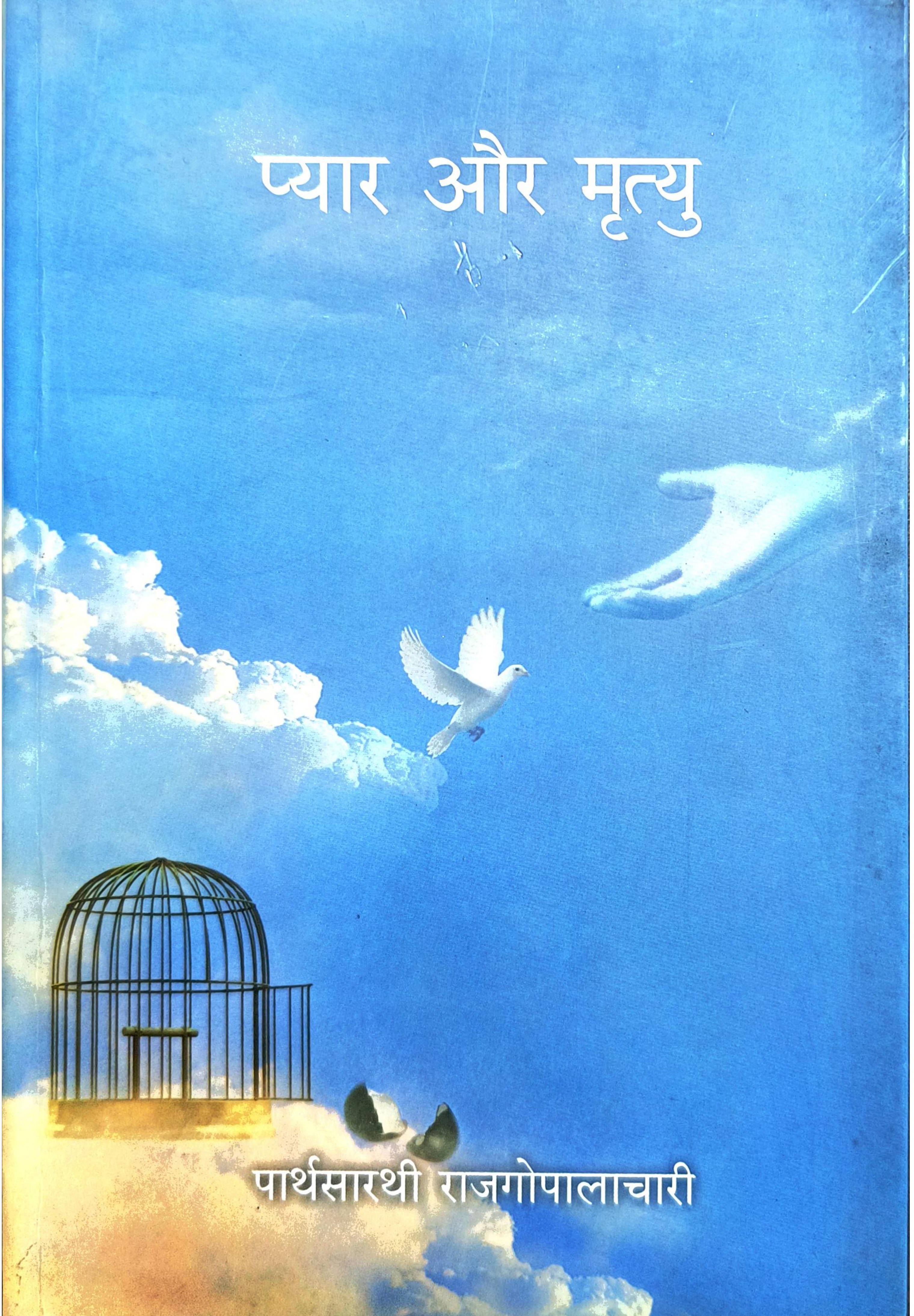

पार्थसारथी राजगोपालाचारी

"तो जैसा कि मेरे मालिक कहा करते थे आध्यात्मिकता लोगों को जोड़ती है। इसमें धर्मों की कट्टरता बिलकुल नहीं रहती। अब उपासना में अलगाव बिलकुल नहीं है। कौन सा ईश्वर सच्चा है, कौन सा धर्म सच्चा है इसकी कोई समस्या नहीं है - मानो ईश्वर सच्चा या मिथ्या भी हो सकता है। क्या ईश्वर कभी भी मिथ्या हो सकता है? ईश्वर केवल एक ही है और यह सभी जानते हैं...."

"तो आध्यात्मिकता लोगों को एकत्रित करके मानवता के एकत्व में उनका विराट भावातीत मिलन कराती है। यहाँ हृदय पर ध्यान के अभ्यास द्वारा मानवीय मूल्यों का ध्रुवीकरण किया जाता है।"

- पी. राजगोपालाचारी

प्यार और मृत्यु

प्यार और मृत्यु

युरोपीयन आश्रम का उद्घाटन,

व्राड सैन्ड

और

14 *अगस्त से* 16 *सितम्बर* 1992

डेनमॉक में दी गयी वार्ताऐं

पार्थसारथी राजगोपालाचारी

श्री रामचन्द्र मिशन

मुख्यालय - शाहजहाँपुर, भारत

Pyar aur Mrityu
Hindi Translation of the English book titled
Love and Death

© श्री रामचन्द्र मिशन
मुख्यालय - शाहजहाँपुर, भारत

© by
Shri Ram Chandra Mission,
HQ – Shahjahanpur, India

www.sahajmarg.org

www.sahajmarg.org

All rights reserved

लाईसेंस प्राप्त कर प्रकाशित करने वाला
स्पिरिचुअल हायरार्की
पब्लिकेशन ट्रस्ट
कोलकाता – 700 027

Published under license by
Spiritual Hierarchy
Publibation Trust
Kolkata – 700 027

First Edition: 1998 Copies: 5000
Second Edition: 2015 Copies: 3000

ISBN : 978-93-84963-27-9

Printer:
Chennai Micro Print
Chennai, India

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना vii

1. समर्पण का जीवन 1

2. यहीं और अभी की सम्भावनाएँ 11

3. दिव्य सिद्धांत..29

4. जीवन मे अपने उद्देश्य के प्रति जागरूक हों..........................38

5. देते रहने का तत्त्व-ज्ञान 42

6. ईश्वर एक है 59

7. प्रेम का मार्ग 71

8. सम्पूर्ण मावनता के लिये आश्रम.......................................86

9. मेरे मालिक, मेरा मिशन, मेरी पद्धति 94

10. प्यार और मृत्यु.. 121

प्रस्तावना

सन् 1992 में डेन्मार्क के व्राड सैन्ड में युरोपीय आश्रम का उद्घाटन हुआ। यह युरोप में श्री रामचन्द्र मिशन के विकास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है जो इसके इतिहास में मील के पत्थर के समान है। उस यात्रा के दौरान श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी जी ने, जिन्हें चारीजी के नाम से भी जाना जाता है, अगस्त और सितम्बर के महिने में व्राड सैन्ड, कोपेनहेगन और आरूस में वार्ताएँ दीं। इन्हीं वार्ताओं का संकलन प्रथम बार डेन्मार्क में सन् 1992 में पुस्तक प्रेम और मृत्यु के रूप में प्रकाशित हुआ।

इस पुस्तक में चारीजी द्वारा सार्वजनिक सभाओं में, व्राड सैन्ड आश्रम के उद्घाटन के अवसर पर, कोपेनहेगन में होवर्ग्सगेड ध्यान कक्ष के उद्घाटन के अवसर पर और प्रशिक्षकों और जिज्ञासुओं को दी गई वार्ताएँ शामिल हैं। इन वार्ताओं में आधुनिक साहित्य में उपलब्ध गहरे आध्यात्मिक सिद्धान्तों के बड़े गहन और सरल स्पष्टिकरण हैं।

इन वार्ताओं के कई विषय हैं - आज्ञाकारिता की आवश्यकता, प्रेम और समर्पण, आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकताएँ, विश्वास द्वारा प्रदान की जाने वाली एक अलग भविष्य की संभावना। सहज मार्ग पद्धति में सफ़ाई का क्रान्तिकारी अभ्यास, पारिवारिक जीवन का महत्त्व, भविष्य की मानवता के लिये संभावनाएँ बनाने के लिये वर्तमान में जीने की आवश्यकता और आश्रम का उद्देश्य। चारीजी हमें विशेष रूप से ईश्वर, प्रेम और मृत्यु जैसे विषयों पर बहुत ही प्रेरणादायक विचार प्रदान करते हैं।

ये वार्ताएँ दिव्यता की खोज करने वालों के लिये पुनःस्थापन और नवीनिकरण का स्रोत हैं। ये जीवन और संस्कृति के सभी क्षेत्रों से आने वाले लोगों को आध्यात्मिकता के प्रति सरल, सुलभ दृष्टिकोण प्रदान करती हैं।

1
समर्पण का जीवन

व्रेड्स सैन में आयोजित प्रशिक्षकों की इस पहली सभा में मैं आप सबका स्वागत करता हूँ। यह ऐतिहासिक है - ऐसा तो मैं नहीं कहूँगा क्योंकि मैं इतिहास में विश्वास नहीं रखता। इतिहास, अतीत की बात करता है और हमारा काम भविष्य के संदर्भ में है। मैं चाहता हूँ कि यहाँ उपस्थित लोग इतिहास में विश्वास करने की जगह इतिहास का निर्माण करने के लिये कटिबद्ध हों, मानवता और इसकी संभावनाओं के विषय में एक नया इतिहास लिखें जिससे आने वाले इतिहासवेत्ता यह कह सकें कि हमारी इतनी उपलब्धियाँ थीं। यह प्राकृतिक इतिहास की भाँति हो, न कि हमारे स्वयं के आनन्द और पदोन्नति के लिये।

अगर जीवाश्म की भाँति भूमि को हम लम्बवत् काटें तो पर्त-दर-पर्त विभिन्न भौगोलिक युग हमारे सामने प्रकट होते हैं। भूमि में प्राकृतिक घटनाक्रमों का लेखा-जोखा विद्यमान है किन्तु यहाँ हम कुछ ऐसा करना चाहते हैं जो लक्ष्य की ओर उन्मुख हो। दीर्घकालिक सन्दर्भ में यह लक्ष्य है - मेरे मालिक द्वारा मानवता के भविष्य के लिये देखे गये सपनों को साकार करना जबकि अल्पकालिक लक्ष्य के रूप में हमें पास आने वाले अभ्यासियों के साथ ऐसा व्यवहार करना है कि वे सहज मार्ग के वादों के

प्रशिक्षकों की सभा- व्रेड्स सैन(डेनमार्क) 14 अगस्त 1992

अनुरूप हमारी सहायता से उन उपलब्धियों को प्राप्त कर सकें और उस दीर्घकालिक लक्ष्य की प्राप्ति में हमारा सहयोग कर सकें। इस प्रकार यहाँ हम भावी इतिहास रचयिताओं के रूप में एकत्रित हुए हैं।

मैं आशा करता हूँ कि आप लोग अपनी इस भूमिका की महत्ता समझते हैं। हम इतिहास लिखते नहीं बल्कि हम इतिहास का सृजन करते हैं – युद्धों, यंत्रणाओं एवं महामारियों का इतिहास नहीं अपितु आनन्द, संतुष्टि एवं विकास का इतिहास। प्रशिक्षकों को इस कार्य में एक निश्चित एवं अर्थपूर्ण भूमिका निभानी है। जो ऐसा नहीं करते, वे मालिक द्वारा उन पर किये गये विश्वास को धोखा दे रहे हैं, तथा प्रशिक्षक का कार्य स्वीकार करते समय उन्होंने अपने आप से जो वादा किया, उससे भी विश्वासघात कर रहे हैं। मैं इस पहलू पर इसलिये ज़ोर दे रहा हूँ क्योंकि प्रशिक्षक भी प्राय: ऐसा सोचते हैं कि कुछ *सिटिंग* देने के अतिरिक्त उन्हें कुछ करना नहीं है। उनसे बेहतर लोग *डायरी* लिख लेते हैं, आलसी लोग तो उतना भी नहीं करते।

हम यहाँ सिर्फ़ *सिटिंग* देने के लिए नहीं हैं। *सिटिंग* एक साधन है – प्राणाहुति को संप्रेषित करने का। यह मालिक द्वारा प्रदत्त क्षमता का उपयोग है। यह सफाई की एक तकनीक है। जैसे एक व्यक्ति बढ़ई के औज़ार रख लेने भर से बढ़ई नहीं हो जाता, उसी प्रकार कार्य करने की क्षमता का वरदान मिल जाने मात्र से हम प्रशिक्षक नहीं बन जाते। हम प्रशिक्षक तभी बनते हैं, जब हम कुछ कार्य करें। अकसर हमारे पास कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं, जिनका हम उपयोग नहीं करते, और उन पर हम गर्व करते हैं। हमारे पास विवेक है, लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। यहाँ तक कि महाबुद्धिमानों में भी यह विवेक नहीं होता कि वे उस बुद्धि का उपयोग अपने स्व कल्याण एवं विकास के लिये कर सकें। वे दिग्भ्रमित हो जाते हैं इसलिये कोई क्षमता प्राप्त करके उसका सही उपयोग न करना उनके लिए एक ख़तरा बन जाता है क्योंकि यदि उसका सही उपयोग नहीं किया जाता तो उसका दुरुपयोग होना स्वाभाविक है।

हमें यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि बाबूजी ने जो कुछ भी हमें दिया है उसका प्रयोग हम उनके प्रयोजन को सिद्ध करने तथा उनके सपनों

को साकार करने में करें। इसके लिए समर्पण आवश्यक है और कार्य के प्रति प्रेम ज़रूरी है। अभ्यासी से प्रेम करने की बातें बहुत की जाती हैं। हमें कार्य से प्रेम करना चाहिये। जब हम अपने कार्य से प्रेम करते हैं तब हम स्वत: ही अभ्यासियों से प्रेम करने लगते हैं। जब हम अभ्यासियों से प्रेम करते हैं, तो हो सकता है हम कार्य न कर पायें। वास्तव में, इससे कई जटिलतायें उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए हमें कार्य से प्रेम करना चाहिये। अब सवाल यह है कि कार्य से प्रेम क्यों करें? इसलिए क्योंकि हम अपने मालिक से प्रेम करते हैं। जब हम मालिक से प्रेम करते हैं, उसके कार्य से प्रेम करते हैं, तो उसकी योजनाओं से तो प्रेम होगा ही। जब हम उनके भविष्य के सपनों से प्रेम करेंगे, तभी हम इस बारे में कुछ कर पायेंगे। अभ्यासियों से प्रेम करने का मुझे कोई परिणाम नज़र नहीं आता। अभ्यासियों से प्रेम करने से क्या लाभ! यदि हम किसी के लिये कुछ अच्छा कर सकते हैं, तो वह उस व्यक्ति के प्रति हमारे प्रेम को दर्शाता है किन्तु किसी को प्रेम करना और उसके कल्याण के लिये कुछ न करना तो हास्यास्पद है। यदि हम किसी को प्रेम करते हैं तो उसके लिये कुछ किये बिना नहीं रह सकते। हम किसी को प्यार करके उसका नुक़सान नहीं कर सकते। जबकि यदि हम उनके लिये कुछ अच्छा करते हैं, तो इसके लिये कोई ज़रूरी नहीं कि हम उनसे प्रेम करें। कार्य का परिणाम स्वयं सामने होता है। इसलिये प्रेम के बारे में बातें कम; परिणाम और समर्पण की बातें ज़्यादा होनी चाहिये। साथ ही प्रशिक्षक का कार्य स्वीकार करते समय हमने मालिक से जो वादा किया था, उसके अनुरूप चलने के प्रयत्नों की बातें अधिक होनी चाहिये।

कार्य में हर एक की अपनी-अपनी भूमिका होती है, इसलिये मेरी राय में आपसी संघर्ष और ईर्ष्या का कोई स्थान नहीं होता। मैं सदैव पौराणिक एवं धार्मिक कथाओं में पाता हूँ कि क्षुद्रतम एवं निर्बल लोगों ने परम बलशाली एवं शक्तिमान लोगों से कहीं अधिक बड़े कार्य किये हैं। सभी सभ्यताओं के प्राचीन ग्रंथों में इनका वर्णन है। इसलिये हमको विनम्र और समर्पित प्रशिक्षक बनने का प्रयास करना चाहिये। हमें चाहिये कि हम कुछ

करने का प्रयत्न कर उपलब्धियाँ प्राप्त करें और उन उपलब्धियों के माध्यम से अपने प्रेम को प्रदर्शित करें। केवल प्रेम करें और लोगों के कल्याण हेतु कुछ न करें – यह उचित नहीं है। हम अपनी जिम्मेदारियों और अवसरों के प्रति सदैव सजग रहें। जब भी कोई व्यक्ति आपके पास आता है, वह आपके लिये कार्य करने का एक अवसर होता है, और हर बार जब आप उसे ऐसे ही जाने देते हैं, आप सेवा करने का एक मौक़ा खो देते हैं – अभ्यासियों की सूची में एक नाम जोड़ने का नहीं अपितु मानव की सेवा करने का अनुपम और दुर्लभ अवसर। भारत के बाहर डेनमार्क ही ऐसी जगह है जहाँ सर्वाधिक पूर्ण प्रशिक्षक हैं। अगर इन्होंने पिछले बीस वर्षों में अपना काम सुचारु रूप से किया होता तो आज डेनमार्क एक रूपान्तरित देश होता। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हमारा मिशन यहाँ ठहराव की स्थिति में है।

मेरे विचार से यह बाबूजी की डेनमार्क के प्रति कृपा एवं उनके अटूट प्यार का ही परिणाम है कि 1972 में जो जीवन-प्रदायिनी आध्यात्मिक शक्ति यहाँ लायी गयी थी, उस उत्साह-धारा का नवीनीकरण करने के लिये आज हम व्रेड्स सैन में एकत्रित हुये हैं। मैं आशा करता हूँ कि अगले बीस वर्षों में हम डेनमार्क को फलता-फूलता देखेंगे और बाबूजी की वाणी को साकार करेंगे कि एक दिन डेनमार्क आध्यात्मिक राजधानी होगा और डेनमार्क के लोग आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर होंगे। यहाँ डेनमार्क में, जहाँ बाबूजी ने इतना प्रेम एवं समय दिया है, ऐसा तो होना ही चाहिये। इसका कोई प्रयोजन नहीं कि हर समय बाबूजी-बाबूजी की रट लगाये रहें, उनसे अपना प्रेम बख़ानते रहें और हम उस प्रयोजन में किसी प्रकार का कोई योगदान न करें जिसके लिये वे यहाँ आये थे। यह बात केवल डेनमार्क के प्रशिक्षकों पर ही नहीं बल्कि सभी प्रशिक्षकों पर लागू होती है। केवल बाबूजी के प्रेम की चर्चा करते रहना वैसा ही है जैसे किसान धूप की चर्चा करता रहे और खेतों में हल न चलाये। सूर्य तो धूप देता ही है। अब इसका क्या मतलब कि हम केवल बात करें कि बहुत सूखा पड़ा था, अद्भुत वर्षा हो गयी और हम खेतों की सिंचाई करने या पानी एकत्रित करने के

लिये कुछ भी न करें। आज हमारी हालत यह है कि हम बाबूजी से प्रेम की रट लगाये हुये हैं किन्तु रचनात्मक धाराओं और विकासक्रम के उद्देश्यपूर्ण प्रगति–प्रवाह में उस प्रेम का उपयोग नहीं करते। मैं लोगों में अकसर यह कमज़ोरी पाता हूँ कि वे बाबूजी और उनके प्रेम की बातें तो करते हैं किन्तु करते कुछ नहीं। जबकि होना यह चाहिये कि भले ही हम बाबूजी का ज़िक्र न करें, काम तो करें हीं। जब हम मालिक के ख़याल में कोई काम करते हैं जो हमारी क्षमतायें असीमित हो जाती हैं। हम सब कुछ करने में समर्थ हो जाते हैं। इसलिये हम कुछ करें या न करें, मालिक का काम अवश्य करें।

मेरे विचार में आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकताओं का पुनरावलोकन करने का समय आ गया है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि हमारा जीवन ख़ुद के लिये नहीं है। अगर हम 'उनके' और 'उनके कार्य' के प्रति निष्ठावान हैं तो हमारी सभी ज़रूरतें 'उनके' द्वारा स्वत: ही पूरी हो जायेंगी। यह समझिये कि दूसरों के काम में ही हमारे जीवन के प्रयोजन की पूर्णता है। दूसरों की खुशी में ही हमारी खुशी छिपी है। दूसरों के स्वास्थ्य में ही हमारा स्वास्थ्य है और 'उनकी' खुशी में ही हमारे लिये अंतिम खुशी का वरदान छिपा हुआ है, अन्यथा इस धरती पर हमारे लिये कोई खुशी नहीं। कदाचित् यही कारण है कि हम लोगों में से कई, जो संतुष्टि के लिये कार्य करते हैं, उन्हें संतुष्टि तो मिलती नहीं, केवल व्याधियाँ, मोहभंग और त्रास मिलते हैं।

ये कुछ बातें हैं, जिन्हें आज मैं आपके हृदय में उतारना चाहता हूँ। एक प्रशिक्षक का जीवन निश्चित प्रयोजन के लिये समर्पित होता है। यह हमें मूर्खतापूर्ण खेल खेलने की स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता। हमें इस कार्य के लिये बहुत गम्भीर होना चाहिये। नि:संदेह, हम अपना जीवन जीने के लिये स्वतंत्र हैं – हमारा दाम्पत्य जीवन, व्यावसायिक जीवन, सेवाभावी जीवन, हर सम्भव, सर्वोत्तम तरीके से जीने की हमें पूरी स्वतंत्रता है, लेकिन यह जीवन प्रशिक्षक के रूप में दी गयी हमारी भूमिका को सीमित करे – यह ठीक नहीं है। इसे तो प्रशिक्षक के रूप में मिली, हमारी भूमिका का सहयोगी होना चाहिये। अगर हमारे जीवन की कोई भी चीज़ प्रशिक्षक के

रूप में किये जाने वाले हमारे कार्य के प्रतिकूल है तो हमसे यह अपेक्षा की जाती है कि हम अपने जीवन से इस चीज़ को बाहर निकाल दें, जीवन के इस पहलू को काटकर अपनी जिन्दगी से हटा दें। अतीत में कई ऐसे महान चित्रकार हुये हैं जिनके हाथ से अगर कोई ग़लत चित्र बन गया तो उन्होंने अपना हाथ ही काट दिया। उनका कहना था कि हमारे इस हाथ ने ही हमें असफल कर दिया। हमारी निष्ठा और प्रतिबद्धता का स्तर भी ऐसा ही होना चाहिये। ऐसी कोई भी वस्तु, जो मुझे मेरे मालिक का काम करने से रोकती है, हमारी इस पद्धति के ख़िलाफ़ है, हमें नहीं करनी चाहिये।

इसका कोई मतलब नहीं कि यह वस्तु कोई व्यक्ति है, कोई स्थान या कोई भौतिक चीज़, अगर यह हमें अपने मालिक का काम करने से रोकती है, तो इसे हमारे जीवन से जाना ही चाहिये। अगर हममें ऐसी समर्पण भावना है तो हमें अपनी बाँह नहीं काटनी पड़ेगी। काम स्वतः ही होता जायेगा। जब भी ऐसी बात होती है तो हम सोचने लगते हैं कि क्या हमें अपना घर-बार और अपनी संपत्ति भी त्यागनी पड़ेगी? क्या इसका अर्थ यह है कि मुझे अपने पति से तलाक लेना पड़ेगा? कतई नहीं। केवल हमें अपने अंदर समर्पण की भावना का विकास करना है। जब समर्पण की इस भावना का विकास हमारे अंदर हो जाता है, शेष सभी वस्तुयें जीवन में सहयोगी भूमिका निभाने लगती हैं। कल तक की सारी वस्तुयें, जिनका हमारे जीवन में असहयोगात्मक रुख़ था, अब हमारे जीवन में सहयोगी भूमिका निभाने लगती है।

हम चाहें तो इस बात की परीक्षा स्वयं अपने जीवन में कर सकते हैं। मेरा दावा है कि यह उक्ति कारगर सिद्ध होगी। जब मेरे जीवन में यह उक्ति कारगर भूमिका निभा सकती है तो आपके जीवन में क्यों नहीं? अभी कुछ दिनों पहले मैं कुछ नवयुवकों से बातचीत कर रहा था। मैंने उनसे कहा : जीवन का एक सिद्धान्त है। हमें आनन्ददायक और कल्याणकारी, इन दोनों में से एक को चुनना पड़ता है। बच्चे हों या व्यस्क, यह एक अटल सिद्धान्त है। जैसे निठल्ले बैठे रहना हमेशा आनन्ददायक है, लेकिन क्या इसमें हमारी भलाई है? तमाम ऐसी चीजें

हैं जिन्हें खाने में आनन्द आता है, लेकिन इसे खाना हमारी सेहत के लिये अच्छा नहीं होता। वस्तुतः, मूर्खतापूर्ण कार्यों को करने में हमेशा ही मज़ा आता है लेकिन ये कार्य हमारी भलाई के लिए नहीं होते। इसलिये हमें हमेशा याद रखना चाहिये कि जब भी हमारे पास चयन की स्वतंत्रता हो – मैं नौकायान के लिये जाऊँ या इस भले व्यक्ति को सिटिंग दूँ; ऐसे में हमें यह सोचना चाहिये कि कौन सी चीज़ हमें मज़ा देगी और कौन सी चीज़ हमारे लिये अच्छी होगी। यह निश्चय हो जाने पर हमें वही काम करना चाहिये जो हमारे लिये अच्छा हो, न कि जो हमें मज़ा दे। यह अनुकरणीय और आसान सिद्धान्त है। जो लोग भी अपने लक्ष्य के प्रति गंभीर हैं, उनके पास कोई विकल्प नहीं होता।

जब भी हम सोचते हैं कि हम स्वतंत्र हैं, हममें चयन करने की योग्यता है, हमें चयन करने का अधिकार है, हमारी ज़िन्दगी जटिल हो जाती है। हम किसी वस्तु का चयन करते समय कई विकल्पों को स्वीकार कर लेते हैं, और यहीं से हमारी ज़िन्दगी जटिल हो जाती है। जब भी हम इस स्थिति में होते हैं कि हमारे पास चयन के लिये केवल एक ही वस्तु हो, करने के लिये केवल एक ही काम हो, और काम करने का केवल एक ही तरीका हो, तो हमारे सामने किसी तरह की कोई उलझन नहीं होती। अपने जीवन का मार्ग चुनने की स्वतंत्रता, अपनी जीवन-पद्धति और अपनी मनमानी करने के अधिकार का त्याग ही समर्पण है। समर्पण का अर्थ बाबूजी के पैर पकड़कर आँसू बहाना नहीं है। भारत में समर्पण का अर्थ ज़्यादातर लोग यही समझते हैं। समर्पण का अर्थ कतई यह नहीं होता कि हम भिखारी बन जायें या मालिक के नौकर बन जायें। समर्पण का केवल इतना ही अर्थ है कि हम चयन करने की अपनी स्वतंत्रता का त्याग कर दें और वे हमसे जो चाहें, हम वही काम करें।

इसी में आज्ञापालन और प्रेम के सारे विचार अन्तर्निहित हैं। वस्तुतः आज्ञाकारिता, प्रेम और समर्पण, एक ही चीज़ के तीन चेहरे हैं। हम अलग-अलग करके इनका विचार ही नहीं कर सकते। या तो हमें तीनों ही चीज़ों को अपनाना है या फिर तीनों चीज़ों से वंचित हो जाना है।

सच पूछा जाये तो कोई भी समर्पण के बिना आज्ञाकारी नहीं हो सकता अन्यथा हम सैनिक या पुलिसकर्मियों जैसे हो जायेंगे, जो वेतन पाने के लिये आज्ञाकारी बने रहते हैं। यहाँ तो हम आज्ञापालन इसलिये करते हैं क्योंकि हम प्रेम करते हैं। हमारा काम ही मालिक के प्रति हमारे प्रेम को दर्शाता है। आजकल, प्रेममूर्ति बाबूजी से प्रेम करने, उनकी उपस्थिति का अनुभव करने की कहानी अकसर सुनने को मिलती है। मुझे, लोगों को इन मूर्खतापूर्ण, भावुक और बेकार बातों में फँसा हुआ देखकर अफ़सोस भी होता है और दुःख भी। मेरी राय में बाबूजी के प्रति आपका प्रेम आपके कार्य के द्वारा प्रतिबिम्बित होना चाहिये। आपके कार्य का परिणाम ही यह बतायेगा कि आप अपने मालिक को प्रेम करते हैं। हमारा काम न करना और केवल मालिक के प्रति प्रेम की रट लगाना उसी तरह है जैसे चिड़ियों का चहचहाना। चिड़िया चहचहाती हैं और हम समझते हैं कि मधुर संगीत गाया जा रहा है। यह कार्य तो एक तोता भी कर सकता है। अगर उसे सिखा दें तो वह भी दिनभर रट लगा सकता है, ''मैं बाबूजी से प्रेम करता हूँ, मैं बाबूजी से प्रेम करता हूँ।'' लेकिन इसका अर्थ क्या है? प्रेम की अभिव्यक्ति तो उनका कार्य करके ही हो सकती है। किसी सिद्धान्त से हमारा प्रेम उसके अनुरूप हमारी कथनी में ही नहीं, हमारी करनी और रहनी में भी प्रकट होना चाहिये। मालिक के प्रति हमारा प्रेम हमारे सार्वभौमिक प्रेम में प्रकट होना चाहिये।

हमारा कार्य ही हमारे प्रेम का परिणाम है जिसे हर व्यक्ति देख सकता है। जब भी हम प्रेम की बात करते हैं, हम केवल आत्मप्रशंसा कर रहे होते हैं। हो सकता है, लोगों को इससे इस बात का संकेत मिलता हो कि हम किसी को प्रेम करते हैं, किन्तु जब हम मालिक का कार्य करते हैं तब तो यह निश्चय जानिये कि उस कार्य का परिणाम लोगों को यह बताने के लिये काफ़ी है कि हम मालिक से प्रेम करते हैं। मिशन और इसके सामर्थ्य के बारे में तो लोग वही धारणा बनायेंगे जो आपके प्रति लोगों की होगी क्योंकि आप ही मिशन का चेहरा हैं। आपके कार्यों को देखकर ही लोग यह धारणा बनाते हैं कि मिशन उनके लिये क्या कर सकता है। इसलिये हमेशा याद

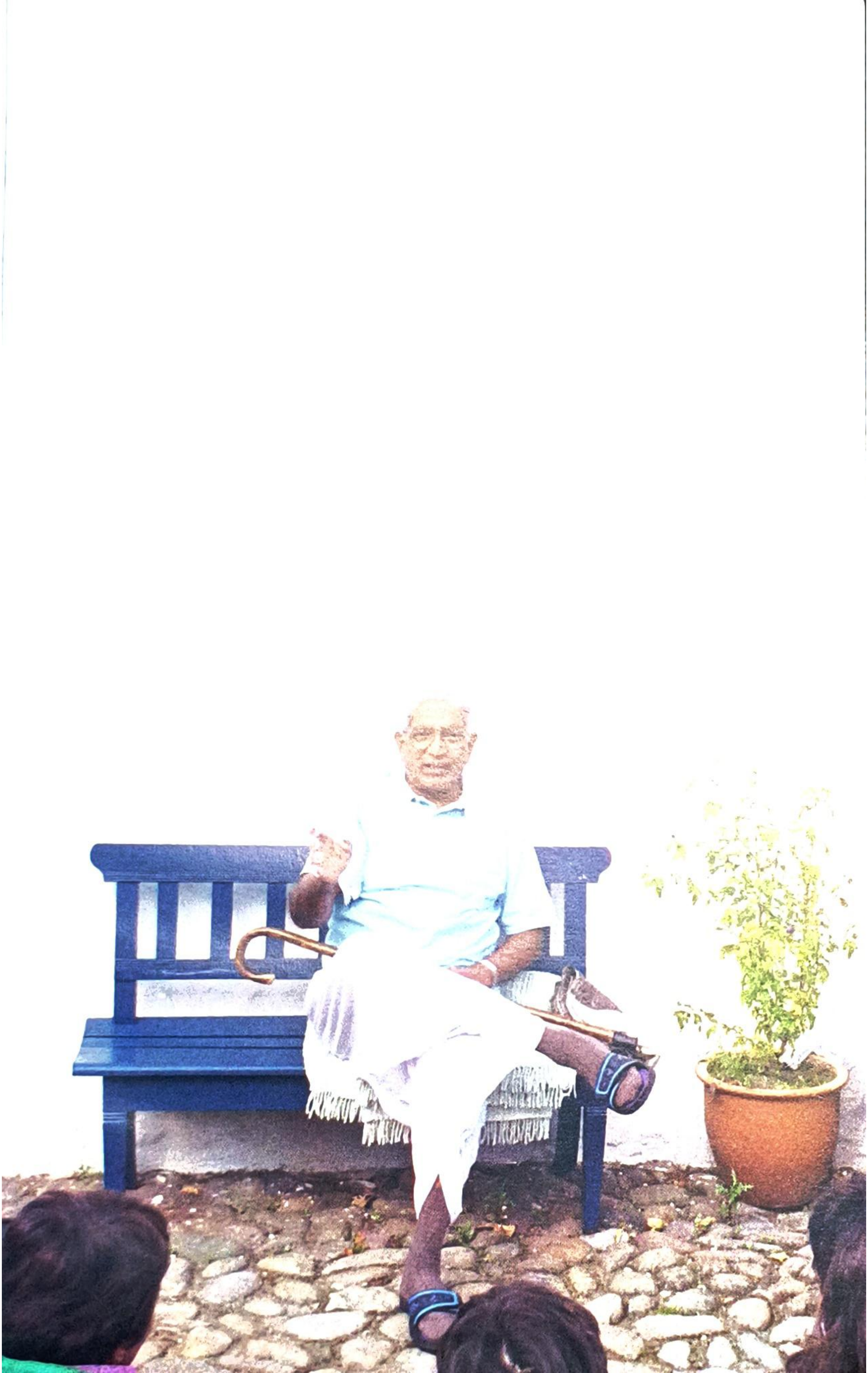

रखिये कि आपके ऊपर महान ज़िम्मेदारी है, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि यह बहुत कठिन हो – है तो यह खेल ही। मुझे जीवन के किसी भी क्षण में यह एहसास नहीं हुआ कि आध्यात्मिक कार्य कठिन है। हाँ, कभी-कभी ज़रूर ऐसा होता है कि मैं आराम करना चाहता हूँ और मैं कार्य के प्रति विद्रोह कर उठता हूँ। जब कोई व्यक्ति आता है और कहता है कि मुझे *सिटिंग* चाहिये, तो मेरे मन में क्षण भर के लिये यह ख़याल ज़रूर आ सकता है कि मैं कहाँ इस बेवकूफ़ी में फँस गया। लेकिन मैं इस पर काबू पा लेता हूँ।

मेरी राय में साहस का अर्थ-*भयभीत नहीं होना* नहीं है। साहस का अर्थ है – भय पर काबू पा लेना। लोग समझते हैं कि साहसी आदमी कभी नहीं डरता, लेकिन यह बात सही नहीं है। अधिकांश साहसी लोग भयभीत रहते हैं लेकिन जब निडर होना ज़रूरी होता है, उस समय वे अपने डर पर काबू पा लेते हैं। आख़िर साहस की उस समय क्या उपयोगिता है, जब इसकी ज़रूरत न हो। सहारा रेगिस्तान में फँसकर भला दस लाख रुपयों का कोई क्या करेगा? इसलिये हमारे गुण, हमारी क्षमता, हमारा बल, सब समय पर प्रकट होना चाहिये। अगर ये सब चीज़ें ज़रूरत के वक़्त हमारे पास नहीं हैं तो इनका होना व्यर्थ है। इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है कि ये सभी चीज़ें हमारे अंदर हैं। आवश्यकता पड़ने पर हमें अपने आलस्य पर काबू पा लेना चाहिये। अगर मैं दिन भर बिस्तर पर पड़ा रहूँ तो इसका यह कतई मतलब नहीं है कि मैं आलसी हूँ। जब मेरे सामने कोई काम हो, तत्काल मुझे बिस्तर छोड़कर उस कार्य को सम्पादित करना चाहिये। भले ही कार्य के समाप्त होते ही मैं पुन: बिस्तर पर आराम करने लग जाऊँ। हमने बाबूजी को देखा है, अधिकतर समय वे अपने बिस्तर में पड़े रहते थे। लेकिन जब भी काम कोई हुआ, वे फ़ौरन उस कार्य को सम्पादित करते थे। किसी ने कभी भी उन्हें आलसी नहीं कहा।

इसलिये जिस लक्ष्य को हमने अपनी श्रद्धा से अंगीकार किया है, उसके प्रति पूर्ण समर्पण-भाव, उस लक्ष्य को प्राप्त करने की योजनाओं के क्रियान्वयन के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता और उस लक्ष्य को, उस सपने का धरती पर साकार करने के लिये हर सम्भव प्रयत्न – यही हमारा कार्य होना

चाहिये। मुझे उम्मीद है कि आप लोग इस अवसर को पहचान कर इस कार्य में अपनी भूमिका का निर्वाह भली-भाँति करेंगे अन्यथा यह निश्चय मानिये कि यह आश्रम, इसका निर्माण, इसमें लगा धन - सब अपव्यव है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यह आपका धन है, इसे बरबाद मत कीजिये। आप लोगों ने इस आश्रम में और दूसरी जगहों पर बने आश्रमों में भी अपना धन लगाया है। अगर आपकी इस कार्य में आस्था नहीं है, आप इस कार्य को करने की इच्छा नहीं रखते और आप बाबूजी के उन आदर्शों को साकार करने के लिये इच्छुक नहीं हैं तो धन का अपव्यय क्यों कर रहे हैं?

हम व्यापार में धन लगाते समय यह जानते हैं कि हम इसमें क्या पायेंगे। हम जानते हैं कि हमारा धन बढ़ेगा। यहाँ हमारा धन तो नहीं बढ़ेगा, लेकिन हमारी खुशी, हमारा आनन्द ज़रूर बढेगा। हमारे प्राणों में नवीन ऊर्जा का संचार होगा, एक नये जोश के साथ हमारा विकास-क्रम आगे बढ़ेगा, एक नयी मानवता की सृष्टि होगी, और जैसा मैंने पहले कहा था - भविष्य के लिये एक नये इतिहास का सृजन होगा जिसे बाबूजी ने अपने मानसपटल पर पहले ही अंकित कर लिया था। हमें अब केवल इतना देखना है कि यह भविष्य की पुस्तकों में भी लिखा जाये।

धन्यवाद!

2
यहीं और अभी की सम्भावनाएँ

भय और विश्वास के बारे में हम लोगों ने बहुत कुछ सुन रखा है। आज सवेरे मेरे मन में एक विचार आया कि हमें डराने वाली जो चीज़ है – वह है हमारा अतीत, और जो चीज़ हमारे अन्दर आस्था उत्पन्न करती है – वह है एक सुनहरे भविष्य की संभावना, जो हमारे उस अतीत से भिन्न हो। वास्तव में, जब कभी हम अपने भविष्य से डरते हैं, हम अपने अतीत से डर रहे होते हैं, हमें इस बात का डर सताता रहता है कि अतीत की गलतियाँ, अतीत की दुर्घटनायें, अतीत के अंधकार की पुनरावृत्ति न हो जाये। वस्तुत: भविष्य का डर और कुछ नहीं बल्कि भविष्य के आइने में अतीत का प्रतिबिम्ब मात्र है। इसलिये मेरा मानना है कि हमारे अतीत के नष्ट हो जाने से हमारा डर भी समाप्त हो जायेगा। लेकिन ऐसा संभव नहीं है। सबका अतीत होता है। अगर हम इस पर ग़ौर करें तो पायेंगे कि हमारा यह अतीत केवल कल या परसों का नहीं है, यह सुदूर वहाँ तक जाता है जहाँ इस सृष्टि की रचना हुई थी।

अब सवाल यह है कि हम अपने इस अतीत के भय से छुटकारा कैसे पायें? वास्तव में, मेरा यह अतीत, है तो मेरी स्वयं की रचना ही। मैंने जो किया वह किया। हाँ, वह नहीं किया जो मुझे करना चाहिये था। लेखाकार लोग अपने बिल या लेखा के नीचे दो चीज़ें ज़रूर लिखते हैं : भूल-चूक, लेनी-देनी। हमसे दो प्रकार की गलतियाँ होती है: कार्य

करने के दौरान हुई गलतियाँ और भूल से हुई गलतियाँ। जो हमे करना चाहिये, वह न करके हम कुछ और कर बैठते हैं। इसलिये भय हमारी सक्रियता और निष्क्रियता के मिश्रण का परिणाम है। हिन्दू दर्शन में हम हमेशा कर्म की चर्चा करते हैं, फिर स्वाभाविक रूप से इसमें कर्म–फल की बात भी आ जाती है। समुचित अवसर पर अगर हम सक्रिय नहीं होते, निष्क्रिय ही बने रहते हैं तो कभी–कभी परिणाम बहुत भयंकर होते हैं। उस माँ की स्थिति की कल्पना कीजिये जो पैसों के अभाव में या टेलीफोन कट जाने के कारण या डॉक्टर के शहर में न होने के कारण अपने बच्चे का इलाज नहीं करा सकी और फलस्वरूप उस बच्चे का जीवन नहीं बचा पायी। कर्म करने में हमारी अक्षमता और कर्म करने में हमारी अनिच्छा, दोनों ही अनर्थकारी घटनाओं का कारण बनती हैं। जैसे : गर्भपात कराने वाली माँ का दुःख, जो पहले तो यह कह कर बच्चे को गिरा देती है कि उसे बच्चा नहीं चाहिये और बाद में सारी ज़िन्दगी इस बात के लिये मन में पछतावा रखती है कि उसने अपना बच्चा गिरा दिया।

यह उस व्यक्ति की मनोव्यथा की तरह है जो गली में किसी गिरे हुये व्यक्ति की मदद कर सकता था लेकिन उसने उसकी मदद नहीं की और बाद में पछताता है। कारण क्या था, उस समय उसे अपने आप की चिन्ता कुछ ज़्यादा ही थी। उस समय वह पूरी तरह से स्वार्थ में लिपटा हुआ था। उसे बस या ट्रेन पकड़ने की जल्दी थी इसलिये उसने एक व्यथित व्यक्ति को तड़पते हुये छोड़ दिया। इसलिये जब कभी हम दुःखी व्यक्तियों को देखते हैं, हमें अपनी सामर्थ्य भर उनके दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि हम हमेशा उनके दुःखों का निवारण कर पाने में समर्थ ही होंगे, फिर भी हमें भरसक प्रयत्न तो करना ही चाहिये। जब हम इस प्रकार की मदद करने का प्रयास कर रहे होते हैं तो इसमें हमारी सफलता या असफलता का कोई प्रश्न नहीं होता। हमें इस बात की संतुष्टि रहती है कि मैं जो कर सकता था, मैंने किया। हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है।

इस प्रकार अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि अतीत ने हमारे भविष्य पर भयंकर पकड़ बना रखी है। यह हमें नपुसंक बनाकर रख देता है। हमें अपने दायरे में रहने को ही विवश कर देता है। मेरी समझ में तो हम एक भ्रांति में पड़े रहते हैं कि हमारे लिये यह सुरक्षित है, इसलिये हमें यही काम करना चाहिये। अगर हम अपने द्वारा पहले किये गये कार्यों को ही केवल यह समझकर दुहराते रहें कि यह हमारे लिये सुरक्षित हैं, निरापद हैं तब तो हम अपने अतीत से कभी बाहर आ ही नहीं पायेंगे। हमें यह जान लेना चाहिये कि दुहराने में कोई सुरक्षा नहीं है। सहज मार्ग में हम न केवल अपने अतीत को भुलाने की बात करते हैं बल्कि सफाई की क्रिया द्वारा पूरी तरह से इसे मिटा देने की बात करते हैं। सहज मार्ग की तमाम विशेषताओं में से यह एक है। मेरी राय में तो आध्यात्मिकता में यह एक क्रान्तिकारी अवधारणा है। इसीलिये मैं अकसर कहता हूँ कि सफाई का कार्य प्राणाहुति से कई गुना अधिक महत्त्व का है। अगर हम बिना सफाई किये किसी को प्राणाहुति देते हैं तो यह उसमें स्थित सभी उन प्रवृत्तियों को मज़बूत बनाता जायेगा जो उसमें मौज़ूद हैं।

आज के जीवन पर ग़ौर करें तो हम पायेंगे कि आधुनिक दवायें भी यही काम कर रही हैं। ये बीमारी का इलाज करने का झूठा दावा करती हैं। वस्तुत: ये दवाइयाँ रोग को और अधिक भयंकर, प्रबल और दुर्दम्यीन बनाती जाती है। रोज़ एक से बढ़कर एक शक्तिशाली दवाओं की सृष्टि की जा रही है, रोग भी शक्तिशाली होते जा रहे हैं। मेरी राय में तो हम एक दिन ऐसे रोग से ग्रस्त हो सकते हैं जिसकी हमारे पास कोई दवा ही न हो। हम जिन बीजों को आसानी से भस्म कर सकते थे, उन्हीं से हम ऐसे दानवों की सृष्टि कर रहे हैं, जिन्हें हम ख़ुद भी नष्ट नहीं कर सकते। हम तमाम चीज़ों के बीजों को उगने का अवसर प्रदान कर रहे हैं – रोगों के बीज, भ्रष्टाचार के बीज, भय के बीज, प्रेमविहीनता के बीज। मेरे लिये तो यह घोर आश्चर्य का विषय है कि लोग मेरे पास अपने जीवन में प्रेमविहीनता की शिकायत लेकर आते हैं : भाई-भाई के बीच, माँ-बेटी के बीच, पिता-पुत्र के बीच। आज ये मानवीय जटिलतायें आसानी से समाज में परिलक्षित होने लगी हैं।

आश्चर्य की बात है कि माता-पिता को अपने बच्चों से और बच्चों को अपने माता-पिता से समस्यायें होने लगी हैं।

बच्चा तो स्वत: ही अपने माता-पिता पर विश्वास करता है। मैंने आज तक ऐसा कोई बच्चा नहीं देखा जो अपने माता-पिता पर अविश्वास करता हो। फिर यह बात क्यों कही जाती है कि मेरी पुत्री मुझसे प्रेम नहीं करती। वह मुझसे घृणा करती है, और आश्चर्य तो तब होता है जब पुत्री भी इस बात की पुष्टि करती है और कहती है : हाँ, मैं अपनी माँ से इतनी घृणा करती हूँ कि मेरा वश चले तो मैं उसे मार डालूँ। लोगों की इस तरह की बातों को सुनकर मैं हतप्रभ रह जाता हूँ। लोग मेरे पास इस तरह की बातें लिखते भी हैं। हमारे माता-पिता, हमारे भावी पथ-प्रदर्शक, मित्र, दार्शनिक तथा हमें हमारे सुनहरे भविष्य में ले जाने वाले, माध्यम बनने की बजाय भूतकाल की वस्तु बन गये हैं। आख़िर ऐसा क्यों है? क्योंकि उन्होंने कुछ ऐसे कार्य किये हैं जिन्होंने उन्हें मूर्तियों की तरह पत्थर बना दिया है। बच्चे के लिये उनका वज़ूद समाप्त हो गया है। ये माता-पिता अपने बच्चों के लिये मर चुके हैं। माता-पिता को अपने बच्चों के प्रति जिस भूमिका का निर्वाह करना चाहिये, वे उसके विरुद्ध चले गये हैं। बच्चा आज उनसे डरता है, अपने को असुरक्षित महसूस करता है। जिन माता-पिता को अपने बच्चों से प्रेम करना चाहिये था, आज वे नरभक्षी दानव बन गये हैं। वे आज स्वार्थपरता, रईसी, तृप्ति, खुशी और मौज-मस्ती में किल्लोलें मार रहे हैं और अपने बच्चों को उन्होंने उपेक्षित रख छोड़ा है।

वस्तुत: माता-पिता को अपने बच्चों के भविष्य का एक घटक बनकर रहना चाहिये, न कि उनके भूतकाल की एक वस्तु बनकर। ओटो ने शिक्षकों के बारे में जो टिप्पणी की है, वह माता-पिता के ऊपर भी लागू होती है। माता-पिता को बच्चों के सामने उनके बड़े भाई के रूप में, पथ-प्रदर्शक की तरह रहना चाहिये। उन्हें हमेशा अपने बच्चों से एक कदम आगे रहना चाहिये, न कि उनसे दो कदम पीछे। पर्वतारोहण अभियान के पथ-प्रदर्शक की कल्पना कीजिये, जिसने यात्रियों को तो

रस्सी से बाँधकर, बर्फ से ढँकी खड़ी पहाड़ी पर चढ़ा रखा है और स्वयं उनके पीछे चल रहा है। उसको तो सबसे आगे होना चाहिये, जिससे जिन लोगों ने उसके साथ स्वयं को बाँध रखा है, वे आश्वस्त होकर उसका अनुसरण कर सकें। अगर वह कहे : नहीं, नहीं मैं तो सबके पीछे चलूँगा; तो वह पथ-प्रदर्शक कैसे हो सकता है? अब सामने रहने का क्या अर्थ होता है? सामने रहने का अर्थ है : खुला होना, सभी मायनों में खुला होना, अपने को खोल कर रखना। अच्छे या बुरे का कोई भाव न हो, खुलापन में फिर भेद कहाँ होता है। आपने देखा होगा कि जब भी बच्चे को किसी ख़तरे का एहसास होता है, वह आकर अपने माता-पिता के पीछे छुप जाता है। अब माता-पिता को तो उस बच्चे के सामने रहना ही चाहिये जिससे वह उनके पीछे छुप सके। उन्हें यह नहीं कहना चाहिये कि मेरे बच्चे! तुम मेरे आगे आओ, हम तुम्हारे पीछे खड़े रहेंगे। हम तो हर समय पीछे रहेंगे। बच्चे इन बातों से मूर्ख़ नहीं बनते।

हमें यह सोचना चाहिये कि क्या हम अपने बच्चे की ढाल बनने को तैयार हैं? उसको वास्तविक या कल्पित ख़तरों से बचाने के लिये तैयार हैं? क्या हम ऐसे किसी संभावित खतरे से जूझने के लिये तैयार हैं, जो हमारे बच्चे को प्रभावित कर सके? अगर हम अपने बच्चे को ऐसी सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकते तो हमें माता-पिता बनने का अधिकार ही क्या है? मुझे यह देखकर बहुत दुःख होता है कि मानव समाज में हम बच्चों के लालन-पालन पर उतना ध्यान नहीं देते जितना अपने पालतू पशु-पक्षियों पर देते हैं। मेरे विचार से मनुष्यों के प्रजनन, लालन-पालन के संबंध में भी एक कानून बनना चाहिये : क्या फलाँ-फँला, माता-पिता बनने लायक हैं या वे केवल मौज-मस्ती के लिये सहवास कर रहे हैं?

मेरे विचार से यह शर्म की बात है कि हम जितनी देखभाल अपनी गायों, कुत्तों, मुर्गे-मुर्गियों की करते हैं, उतनी अपने बच्चों की नहीं करते। यही कारण है कि हम मानव की जगह दानव की सृष्टि करते हैं। पूर्वी देशों में विवाह की योग्यता की एक प्राचीन अवधारणा है। शारीरिक रूप से तो उपयुक्तता सबमें होती है, पशु मैथुन करते हैं, पक्षी भी मैथुन

करते हैं फिर मानवों के मैथुन में ऐसी कौन सी विलक्षण बात है? फिर किस तरह की उपयुक्तता की बात की गयी है? यह है : नैतिक उपयुक्तता। क्या मैं प्रशिक्षण की सभी कठोरताओं को अंगीकार करने के लिये प्रस्तुत हूँ? जब भी कोई बच्चा हमारे यहाँ जन्म लेता है तो इसका मतलब होता है कि हमें उसका पिता बनना होता है और हमारी पत्नी को उसकी माँ; क्या हम यह स्वीकार करने को तैयार हैं? क्या हम कष्ट भोगने के लिये तैयार हैं? संक्षेप में, क्या हम अपने बच्चे की ढाल बनने को तैयार हैं? निरन्तर उसके आगे-आगे चलने को तैयार हैं? कोई भी व्यक्ति ढाल को अपनी पीठ पर नहीं रखता। ढाल को हमेशा सामने रखा जाता है। अगर आपमें यह सामर्थ्य है, तो आप माता-पिता बनने के लिये तैयार हैं, तभी आप इसकी उपयुक्तता रखते हैं। अन्यथा, बेहतर है आप संतानोत्पत्ति न करें। माँ-बाप बनने की ज़हमत मोल न लें।

शिक्षक बनना इससे भी बद्तर है। ऐसा शिक्षक जो कहे : तुम लोग आगे चलो, मैं आ रहा हूँ; वह शिक्षक नहीं हो सकता। तैराकी के शिक्षक हैं, तो पहले आपको पानी में कूदना होगा। अब अगर शिक्षक कहे : नहीं, नहीं, मैं तो कुशल तैराक हूँ, मुझे यह सिद्ध करने के लिये पानी में कूदने की क्या ज़रूरत है, तुम कूदो। शिष्य कहेगा : मास्टरजी! यह तो ठीक है लेकिन कुछ गड़बड़ हो गई तो? ''नहीं, नहीं मैं किनारे पर खड़ा हूँ न, तुम्हें कूदकर बचाने के लिये।'' ऐसे तैराकी के शिक्षक को हम क्या कहेंगे? इस तरह अगर हम ग़ौर करें, तो पायेंगे कि हर व्यक्ति पर एक बड़ा उत्तरदायित्व है। स्त्री हो या पुरुष, परिवार का पालन-पोषण करना, उत्तरदायित्व की दिशा में प्रत्येक व्यक्ति का पहला चरण है। जो लोग अच्छे माँ या बाप नहीं बन सकते, वे एक अच्छे अभ्यासी कैसे हो सकते हैं? अच्छे गुरु या अच्छे शिक्षक होने की तो बात ही करना बेकार है।

इसलिये सहज मार्ग में गृहस्थ जीवन पर इतना ज़ोर दिया गया है। यहाँ पलायनवादियों के लिये कोई स्थान नहीं है। जो लोग अपने पति या पत्नियों को छोड़कर आये हैं या ऐसे पति या पत्नी, जिन्होंने अपने बच्चों

का त्याग कर दिया है, ऐसे लोगों के लिये सहज मार्ग में कोई स्थान नहीं है। यहाँ तो उन वीरों का स्वागत किया जाता है जो गर्व से कहें कि हाँ, हमने गृहस्थ धर्म का पालन किया है। लोग पूछेंगे : क्या तुमने कष्ट भोगा? वह कहेगा: नहीं तो, मुझे तो कभी भी ऐसा नहीं लगा। आप कहेंगे : लेकिन लोग तो कहते हैं कि तुमने बहुत कष्ट भोगा। ''अरे! यह भी कोई बात हुई! क्या बच्चों के लिये कोई कष्ट भोगता है?'' जो मैं अपनी संतान के लिये करता हूँ उसे त्याग थोड़े ही कहा जाता है। क्या मैं अपने परिवार के लोगों को कुछ देकर दु:ख पा सकता हूँ? क्या आप किसी को प्रेम देकर दु:खी हो सकते हैं? जब आप किसी पंख टूटी चिड़िया को घर लाकर उसकी सेवा करते हैं, उसे चूमते हैं, उसे दूध पिलाते हैं तो क्या दु:खी होते हैं? उस चिड़िया को दूध पिलाना क्या आपका त्याग है? यह आपका कर्त्तव्य है या आपके आनन्द का विषय?

इस बात पर हम अगर ग़ौर करें तो पायेंगे कि जब तक हम इस स्तर तक विकसित नहीं हो जाते कि किसी को कुछ देना हमारे लिये देना न रहकर आनन्द का विषय बन जाये, हम किसी को कुछ देने के योग्य नहीं होते। हम सबका कर्त्तव्य है कि हम इस मामले में अपना परीक्षण ख़ुद करें। क्या मैं जो होने का दावा करता हूँ, वह हूँ? क्या मैं माँ या पिता कहलाने का अधिकारी हूँ? क्या यह मेरा बच्चा है? यह मेरी इच्छित संतान है या अनिच्छित? मैं ऐसा इसलिये कह रहा हूँ क्योंकि आजकल अवांछित बच्चों की भरमार है। ऐसे बच्चे गर्भ में ही इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि वे अवांछित है। मैं अकसर गर्भवती माताओं को सलाह देता हूँ कि वे अपने गर्भस्थ शिशु से प्रेमपूर्वक वार्तालाप करें। उससे ऐसे बात करें जैसे वह वहाँ विद्यमान हो। उसका स्वागत करें। उससे प्रेम करें। लेकिन इसके विपरीत मैं पाता हूँ कि हमारे अंदर घृणा होती है, गर्भपात के प्रयास किये जाते हैं और यह शिशु इस बोध के साथ बढ़ता है कि वह अवांछित है। यह अपमानजनक है, घृणास्पद है।

हम ऐसे समाज से क्या अपेक्षा रख सकते हैं जहाँ ऐसे शिशु जन्म लेते हैं। क्या हमारे भविष्य में शांति हो सकती है? अगर हमारे वर्तमान में ही हमें शांति नहीं है तो भविष्य में हमें प्रेम और शांति कहाँ से नसीब

होगी? जब हम स्वयं अपनी रचना से ही जाने या अनजाने घृणा करते हैं तो हमारी रचना हमसे कैसे प्रेम कर सकती है? यह हमारी सुरक्षा, हमारा पालन और हमारा पोषण कैसे कर सकती है? वह तो हमसे घृणा करेगी, हमारा अनादर करेगी और मौका पाते ही हमें घर से निकाल कर बाहर फेंक देगी।

इससे स्पष्ट है कि हम जैसा भविष्य ख़ुद के लिये चाहते हैं, उसकी रचना हमें अपने वर्तमान में करनी पड़ेगी। आध्यात्मिकता का संदेश तो बहुत ही स्पष्ट है : यहीं और अभी। आध्यात्मिकता में भविष्य नाम की कोई चीज़ नहीं होती। जो कुछ है सब यहीं है। आप कहेंगे : लेकिन आप तो विकासक्रम की बात करते हैं। हाँ, लेकिन यह विकासक्रम जीवविज्ञानियों का है, आध्यात्मिकता का नहीं। बाबूजी बहुत ही सुंदर तरीके से कहते थे कि अपना चेहरा इधर से उधर को घुमाओ और पाओगे कि यह चीज़ वहाँ मौज़ूद है। आध्यात्मिकता में कोई भी घटना तत्क्षण ही घटित नहीं होती है। जो चीज़ पहले से विद्यमान न हो, उसे हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं? क्या हम ऐसी वायु में श्वास ले सकते हैं जिसका निर्माण 1000 साल बाद किसी रसायनज्ञ द्वारा किया जाने वाला हो। हम वह पानी कभी नहीं पी सकते जिसे 200 साल बाद बनाने की योजना हो। मैं ऐसा करने के लिये जिन्दा नहीं रहूँगा। यह तथ्य है कि मैं अभी जीवित हूँ और मेरे सामने अपार संभावनायें विद्यमान हैं – आज, अभी और यहीं।

ओटो ने ठीक ही कहा कि जीवन एक संभावना का नाम है। यह कोई पूर्ण वस्तु नहीं है, यह एक प्रक्रिया है, जिसमें हम संभावना को वास्तविकता प्रदान करते हैं। यह संभावना हमें चारों ओर से विपुलता, सौन्दर्य, एकरसता, प्रेम से घेरे हुए है। आख़िर हम व्रेड्स सैन जैसे स्थान से इतने मोहग्रस्त क्यों हैं? कल मैं किसी व्यक्ति को बता रहा था कि अगर किसी भारतीय ने यह स्थान देखा तो वह यही कहेगा कि क्या इसी स्थान के लिये आपने 47 लाख क्रोनर व्यय कर दिये? इससे कम पैसे में तो आप इससे ज़्यादा ज़मीन खरीद सकते थे। मेरे पास अपनी 18 हेक्टर ज़मीन है। अगर आपने यह कहा कि *लेकिन यहाँ अट्टालिकायें भी तो हैं।*

तो उसका जवाब होगा : लेकिन ये बहुत पुरानी हैं, खण्डहर होने जा रही हैं और इसमें जगह भी बहुत कम है। *लेकिन इसमें एक सुंदर स्नानागार भी तो है।* "हाँ, परंतु इससे अभी भी घोड़ों की बू आती है।" अंत में मुझे यह मानना पड़ेगा कि इस आश्रम के लिये 47 लाख क्रोनर देकर मैंने बेवकूफ़ी की। जो भी व्यक्ति इसे व्यापार की दृष्टि से देखेगा, भौतिकवादी नज़रिये से देखेगा वह यही कहेगा कि आख़िर इस 18 हेक्टर भूमि में, जो हजारों हेक्टर भाूमि से चारों ओर से घिरा हुआ है, क्या विलक्षणता है? वह अपनी तर्कबुद्धि से बिलकुल सही बात कहेगा। वह कहेगा कि "क्या है इस ज़मीन में, बस! मीनार की चोटी पर खड़े होकर अपने स्वामित्व वाली भूमि के चारों ओर फैली हुई हजारों हेक्टर भूमि की सुंदरता को निहारो और इस बात का एहसास पैदा करो कि यह सब तुम्हारे स्वामित्व में नहीं है।" यह बात तर्कसंगत है, लेकिन ज़रूरी नहीं कि यह हमारी नज़र में भी सही हो।

अगर हमसे कोई यह प्रश्न बहुत गंभीरतापूर्वक पूछे तो मैं उससे कहूँगा कि भाई! मैंने आश्रम की यह भूमि केवल संभावना देखकर खरीदी। उसी तरह जैसे कोई स्त्री बाजार जाकर सब्जी खरीदती है। अगर आप उससे पूछें कि इसमें क्या संभावना है। तो उसका जवाब होगा : मैं उम्मीद करती हूँ कि इससे मैं अच्छे व्यंजन बनाऊँगी। हालाँकि यह भविष्य की संभावना है लेकिन यह वर्तमान में भी है। अगर मेरे झोले में सब्जी ही न हो, तो व्यंजन बनाने की संभावना ही समाप्त हो जायेगी।

इस पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि सारी संभावनाओं का अस्तित्व यहीं है और अभी है। मैंने कई बार यह बात कही है कि बिना भरोसे के किसी संभावना का कोई महत्त्व नहीं है। यह केवल संभावना ही बनी रहती है। कभी साकार रूप नहीं ले पाती। आख़िर वह कौन सी चीज़ है जो हमें इन संभावनाओं को अपने हाथों में पकड़ने से रोकती है, इन्हें अपना बनाने से और इन्हें साकार रूप देने से हमें रोकती है – वह है हमारे मन में बैठा हुआ अतीत का भय। "हाँ, किन्तु चारी जी! जब मैं बच्चा था, मेरे पिताजी कहते थे कि सभी बातें संभव हैं।" *निःसंदेह यह संभव भी तो थीं, फिर असफल कैसे हो गये?* "चारीजी! मैं इन किशोरियों के

साथ घूमा करता था।'' *अच्छी बात है। किशोरियों के साथ घूमने में तो कोई बुराई नहीं है।* ''ओह! आप तो जानते ही हैं कि हम थोड़ा घनिष्ठ हो गये। जिन बातों में अकसर किशोर और किशोरियाँ घनिष्ठ हो जाते हैं, उन्हीं में हम भी हो गये।'' ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि इस बात की संभावना थी।

आपने देखा कि आपने उस संभावना को पकड़ा, जो उस संभावना से बेहतर नहीं थी जिसे आपने स्वीकार नहीं किया। मैं किशोरों के लिये धूम्रपान वर्जित करने वाला हूँ। धूम्रपान करना ठीक नहीं है, इससे कैंसर का ख़तरा है, मृत्यु का ख़तरा है, विनाश का ख़तरा है, यह अच्छी चीज़ नहीं है। इसलिये हमें चाहिये कि हम किशोरों को धूम्रपान करने से रोकें। मैं नहीं चाहता कि किशोरों के पिता 5 साल बाद आकर मुझसे कहें कि देखिये! मेरे लड़के को फेफ़ड़ों का केंसर हो गया। फिर वे मुझसे अपेक्षा करेंगे कि मैं उनके लिये प्रार्थना करूँ। यह मेरे लिये संभव नहीं होगा।

जब कोई व्यक्ति विचार करके और जान-बूझकर कोई काम करता है, और इसका प्रतिफल भोगता है, तो मैं नहीं समझता कि इन परिस्थितियों में मुझे उसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। मेरी राय में उसे ईश्वर की दया पर छोड़ देना ही उचित है। अगर हम देखें तो हमें प्रार्थना करने के लिये भी सोचता पड़ता है।

आज एड्स पर इतना शोध हो रहा है। मैं यह नहीं समझ पाता कि आख़िर, एड्स के इन रोगियों पर इतना पैसा क्यों लुटाया जा रहा है। उन्हें इतनी सहानुभूति क्यों दी जा रही है। ये लोग टी.बी. पोलियो या अन्य बीमारियों से रोगग्रस्त लोगों से अलग कैसे हैं? जिनके दिल टूट गये हैं उनका एक न्यास क्यों नहीं बनाया जाता? टूटे दिलों की महामारी तो एड्स से भी ज्यादा ख़तरनाक है और ज़्यादा फैली हुई है। आख़िर एड्स के प्रति ही सारा जोर, सारा झक क्यों? ईसाई धर्मगुरु भी इसी पर अपना वक्तव्य देते हैं और अमेरिकी राष्ट्रपति भी। आख़िर एड्स में ऐसी कौन सी विलक्षणता है? मेरी समझ में यह बात बिलकुल नहीं आती। शायद मेरे पूर्वी दिमाग में यह बात आ भी नहीं सकती। क्या हम इसीलिये मुद्राकोष का संग्रह कर रहे हैं कि भविष्य में कोई एड्स पीड़ित न मरे। क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि

हम इन एड्स पीड़ितों के साथ सहानुभूति दिखा रहे हैं? क्या इससे एड्स को बढ़ावा नहीं मिल रहा है? नि:संदेह इसका यही अर्थ है।

आख़िर हम गलियों में घूमते भिखारियों से तो सहानुभूति नहीं रखते। हम युद्ध-पीड़ितों के साथ तो सहानुभूति नहीं रखते। जो देश भूखों मर रहे हैं उनसे तो सहानुभूति नहीं रखते। सहानुभूति रखते हैं तो उनके लिये जिन्होंने जान-बूझकर, विलासिता से प्रेरित होकर गलतियाँ कीं, बुरे कर्म किये, शारीरिक और नैतिक पाप-कर्म किये और अब उनका प्रतिफल भोग रहे हैं। आज पोप भी इसी पर वक्तव्य दे रहे हैं। यह अप्राकृतिक और भद्दी बात है। आज गंदगी के प्रति, पतितता के प्रति मोहग्रस्तता का साम्राज्य है। इसे दूर होना ही चाहिये। साफ-सुथरे जीवन में, साफ-सुथरे विश्व में, रोगों का इलाज तो होना चाहिये, लेकिन रोगों के प्रति दुर्मोह नहीं होना चाहिए। हमें उनके इलाज के लिये सक्षम चिकित्सा उपलब्ध कराना चाहिये। उन्हें चर्च में भेजिये, पोप से वे लोग आशीर्वाद ग्रहण करें। लेकिन हमें इस स्थिति पर मनन भी करना चाहिये कि हमारे द्वारा एड्स पर किये जा रहे ये अनुसंधान, एड्स पर बहाया जा रहा यह अकूत धन, कहीं हमारे नवयुवकों में यह ग़लत संदेश तो नहीं दे रहा है कि यह विलासितापूर्ण और अनैतिक जीवन ठीक है। जिस समय मुझे यह रोग होगा इसकी चिकित्सा सुलभ हो जायेगी। हमें तो लगता है कि हम एड्स का समर्थन कर रहे हैं। इसे प्रोत्साहन दे रहे हैं। यह नैतिकता की बात नहीं है।

मुझे मालूम है कि अभी कई लोग मुझसे आकर यह पूछेंगे - चारी जी! लेकिन आप यह सब कुछ जो कह रहे हैं, आध्यात्मिकता नहीं है। ठीक है! लेकिन जब आप एक नये समाज की रचना करने निकले हैं तो आपको जीवन में कुछ सुधार लाने होंगे, जो नहीं होना चाहिये, उसे रोकना होगा और जो होना चाहिये उसका समर्थन करना होगा। हमें कोई ऐसी क्षमता नहीं विकसित करनी जिसमें हम बिना किसी दण्ड-भय के बार-बार कोई पाप-कर्म कर सकें, क्योंकि तकनीकी ज्ञान ने यह संभव बना दिया है कि हम बिना रोग-भय के पाप-कर्म में लिप्त रह सकते हैं। यह वह मार्ग नहीं है जिसका अनुसरण विज्ञान, शोध और चिकित्सा क्षेत्र के लोगों को

करना चाहिये। प्राकृतिक आपदायें? हाँ, इनके निवारण का उपाय खोजिये। लेकिन सुविचारित, स्वआमंत्रित और स्वरचित आपदाओं के निवारण का उपाय मत खोजिये।

हमें अपने बच्चों को सिखाना चाहिये कि वे एड्स पर शोधकार्य करने की चिन्ता छोडें। इससे बचे रहें। कल होने वाले शोध और कल के धन पर आख़िर हम कैसे निर्भर हो सकते हैं? आख़िर हम ऐसी बीमारी क्यों पालें जिसका इलाज कल खोजा जा सकेगा? हम लोगों में एक भ्रांति यह भी है कि मैं बीमार हो सकता हूँ क्योंकि मैं शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाऊँगा। हमारे यहाँ एक से एक अच्छे अस्पताल हैं। आरोग्य रहने का बीमा भी होता है। बीमा के बाद हम बार-बार बीमार पड़ सकते हैं, घर पर निठल्ले बैठे रह सकते हैं क्योंकि हमारी सुरक्षा के लिये बीमा कंपनियाँ और सरकार मौज़ूद है ही। ऐसी सरकार, जो आपको ख़ुद से नहीं लेकिन बीमारी से सुरक्षा प्रदान करती है। वस्तुतः यह न तो संरक्षण ही है और न ही ऐसी सरकार का कोई अर्थ है। आपकी सरकार को चाहिये कि वह अपने नागरिकों को यह सिखाये कि यह कर्म निषेध है, इसे कोई न करे। उन्हें यह सिखाये कि इसी में आपकी भलाई है कि आप यह कर्म न करें।

मुझे याद आता है, जब हम फ्रोस्लेव में प्रवास पर थे, अचानक एक युगल शिविर से गायब हो गया। करीब 26 घंटों तक ये लोग नहीं आये। मैं स्वयं को इसके लिये उत्तरदायी समझने लगा। लेकिन लोगों ने बताया कि यहाँ इसमें कोई ख़ास बात नहीं है। कुछ युगल तो, घंटो की बात कौन कहे, हफ़्तों गायब रहते हैं, ये किसी शिविर या समुद्रतटीय मनोरंजन स्थल में मौज कर रहे होंगे। यहाँ किसी को भी इस बात की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं समझ में आती। उन्हें यह प्रेरणा नहीं होती कि वे इन लापता लोगों की खोज के लिये टेलिफोन पर पुलिस को सूचना दे दें। आख़िर जो युगल इस तरह गायब हो गया, उसकी हमारे प्रति क्या जिम्मेदारी है? वे हमारे आध्यात्मिक शिविर से गायब हो गये और दूसरे दिन संध्या तक नहीं आये।

वस्तुत: हम लोग अत्यधिक कठोर हृदय, अशिष्ट और मोटी चमड़ी के हो गये हैं। हम अपनी संवेदनशीलता खो चुके हैं। इसीलिये हम अपने उस देश पर नाज़ करते हैं जो अपने राजस्व का 18 प्रतिशत एड्स के शोध पर लुटा रहा है। दूसरा आध्यात्मिक देश इस तथ्य को स्वीकार करने में भी लज्जा का अनुभव करेगा। बड़ी अजीब सी बात है कि जिन बातों पर हमें लज्जा आनी चाहिये, उन्हीं पर हम आज गर्व करने लगे हैं। पाठशालाओं की कमी और अस्पतालों की बहुतायत आज समाज के लिये गर्व का विषय है। आज हम यह नहीं जानते कि अज्ञानता, रोग, व्याधि और जीवन के प्रति नैतिक भावना की कमी को कैसे समूल समाप्त किया जाये। अब यह सब केवल अवसर की बात रह गयी है। आज इतिहास और भूगोल की शिक्षा देने को ही विद्वता माना जा रहा है। वस्तुत: विद्वता जीवन जीने की शिक्षा देने में है : हम चिन्तामुक्त होकर स्वतंत्रता का जीवन कैसे जियें? करने योग्य और न करने योग्य कर्मों की दुविधा से मुक्त होकर हम अपना जीवन कैसे जियें? मन पर जो भिन्न प्रकार के विचारों के भार पड़े हुये हैं, उनसे मुक्त होकर कैसे जियें? इस सबसे छुटकारा पाकर एक अच्छा जीवन जीने का केवल एक ही तरीका है : समर्पण, क्योंकि यह हमें सिखाता है कि हमारे योग्य करने लायक क्या है और हमसे कहता है कि यही करो।

सहज मार्ग के दस उसूलों में मेरे मालिक ने कहीं यह नहीं कहा कि हमें क्या नहीं करना चाहिये, जबकि अन्य सभी धार्मिक साहित्यों में इस बात पर ज़ोर ज़्यादा है कि हमें क्या नहीं करना चाहिये। हम सब जानते हैं कि अगर किसी को कोई काम करने से मना कर दिया जाये तो उसका ध्यान उस निषेधित वस्तु पर ही बार-बार जायेगा। वह उस कार्य को तत्काल करने के लिये उत्सुक हो जायेगा। यह निषेधाज्ञा हमें तत्काल ही वह कार्य करने को बाध्य कर देती है। हम जानना चाहते हैं कि आख़िर इसे न करने पर इतना ज़ोर क्यों दिया जा रहा है।

इसलिये मेरी राय में शिक्षा सकारात्मक निर्देशों से शुरू की जानी चाहिये। बताया जाना चाहिये कि हमें क्या-क्या करना है और किस समय करना है। हम कहते हैं, ''लेकिन चारी जी! जिस समय जगने को कहा

गया है उस समय तो जगना बहुत कठिन है। क्या मैं कल ध्यान कर सकता हूँ?'' लेकिन कल, कल तो भविष्य के गर्भ में है। क्या पता कल हम जीवित भी रहेंगे या नहीं। कल हम नियत समय पर जग जायेंगे, इसकी क्या गारंटी है? जब हम आज नियत समय पर नहीं जग सके तो कल नियत समय पर जगने की संभावना तो और कम है। परसों यह संभावना और भी कम हो जायेगी। जैसे-जैसे हम विलम्ब करते जायेंगे, संभावना कम होती जायेगी और एक समय ऐसा भी आयेगा, जब कोई संभावना नहीं रह जायेगी। सब कुछ असंभव हो जायेगा। असंभव का मतलब ही है – संभावना से रहित। जब हमने आज नियत समय पर ध्यान नहीं किया तो कल तो ध्यान करने की संभावना और कम होगी, और एक हफ़्ते के बाद तो हम कहेंगे : चलो! जब हमने एक सप्ताह बिना ध्यान किये गुज़ार ही लिया तो अब क्या है? आख़िर ध्यान में ऐसी अद्‌भुत बात क्या है? अब भी तो मैं वही पहले वाला व्यक्ति हूँ। मुझमें कुछ भी गड़बड़ी तो नहीं है। उसे देखो! वह पागलों की तरह ध्यान कर रहा है। उसके पास ऐसा क्या है जो मेरे पास नहीं है। इस पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि हम संभावनाओं को असंभव बनाने के आदी हो चुके हैं।

आलस्य और करने योग्य काम को न करने की आदत हमारे जीवन में विद्यमान संभावनाओं को कम करती जाती है और एक दिन ऐसा भी आता है जब हम इतने निकम्मे और सनकी बन जाते हैं कि हमारे लिये कुछ भी संभव नहीं रह जाता। संभावना जीवित रहे – इसके लिये ज़रूरी है कि हम संभावनाओं का उपयोग करें। अगर हमें समय चाहिये तो हमें यह चाहिये कि इसी समय से हम अपने समय का उपयोग करना शुरू कर दें। अगर हमने इसी समय से समय का उपयोग नहीं किया तो क्या पता कि अगला क्षण मेरी जिन्दगी में आये या नहीं। सब कुछ शाश्वत है – यह कहना तो बहुत सरल है। घड़ी की टिक-टिक तो चलती रहती है लेकिन मृत व्यक्ति के लिये इसका क्या महत्त्व रह जाता है। कोई व्यक्ति पर्वतारोहण करके अपनी टाँगें तुडा लेता है फिर 6 महीने बिस्तर पर पड़ा रहता है। आख़िर उसके समय का क्या होता है। उसके पास समय तो होता है लेकिन करने

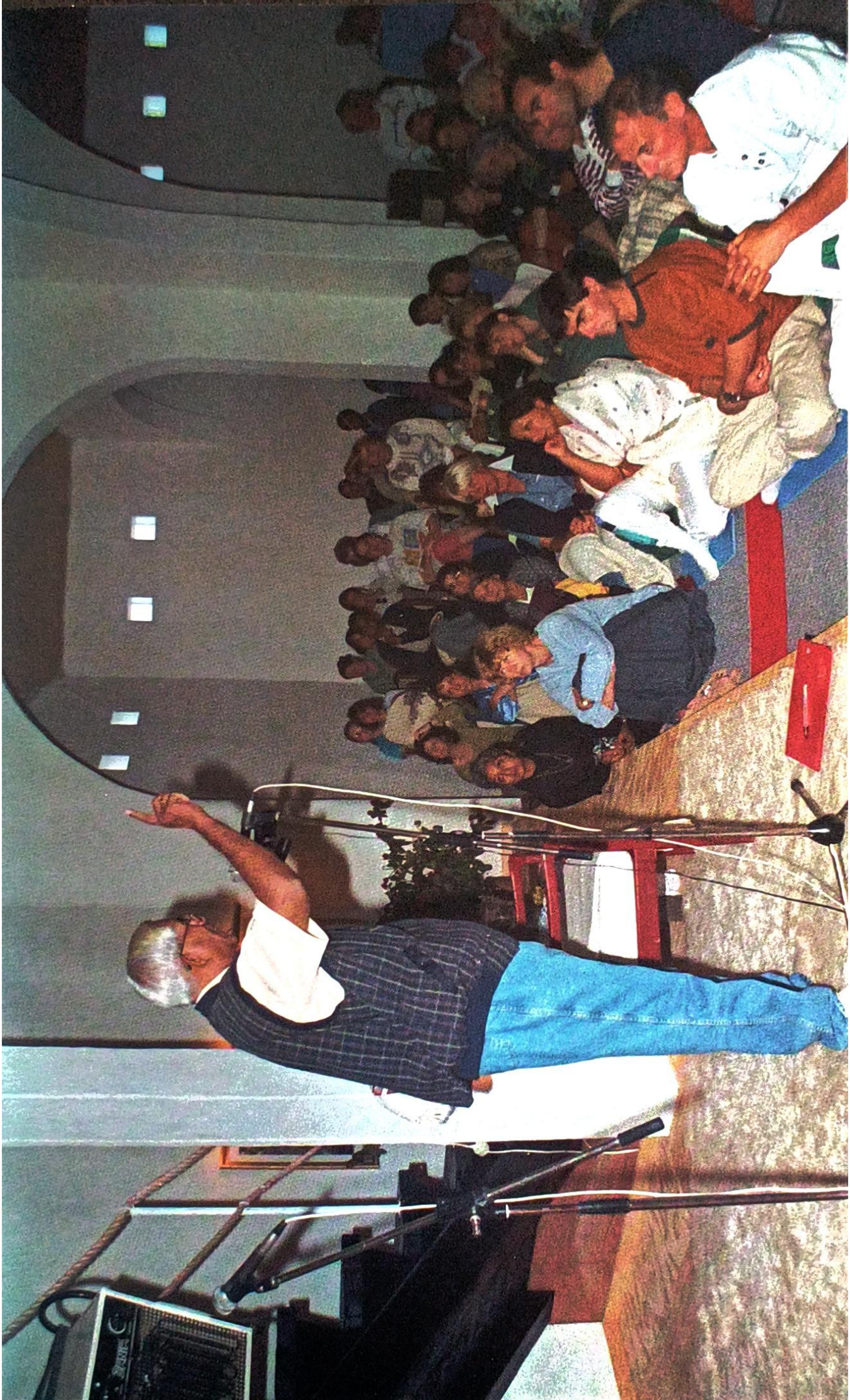

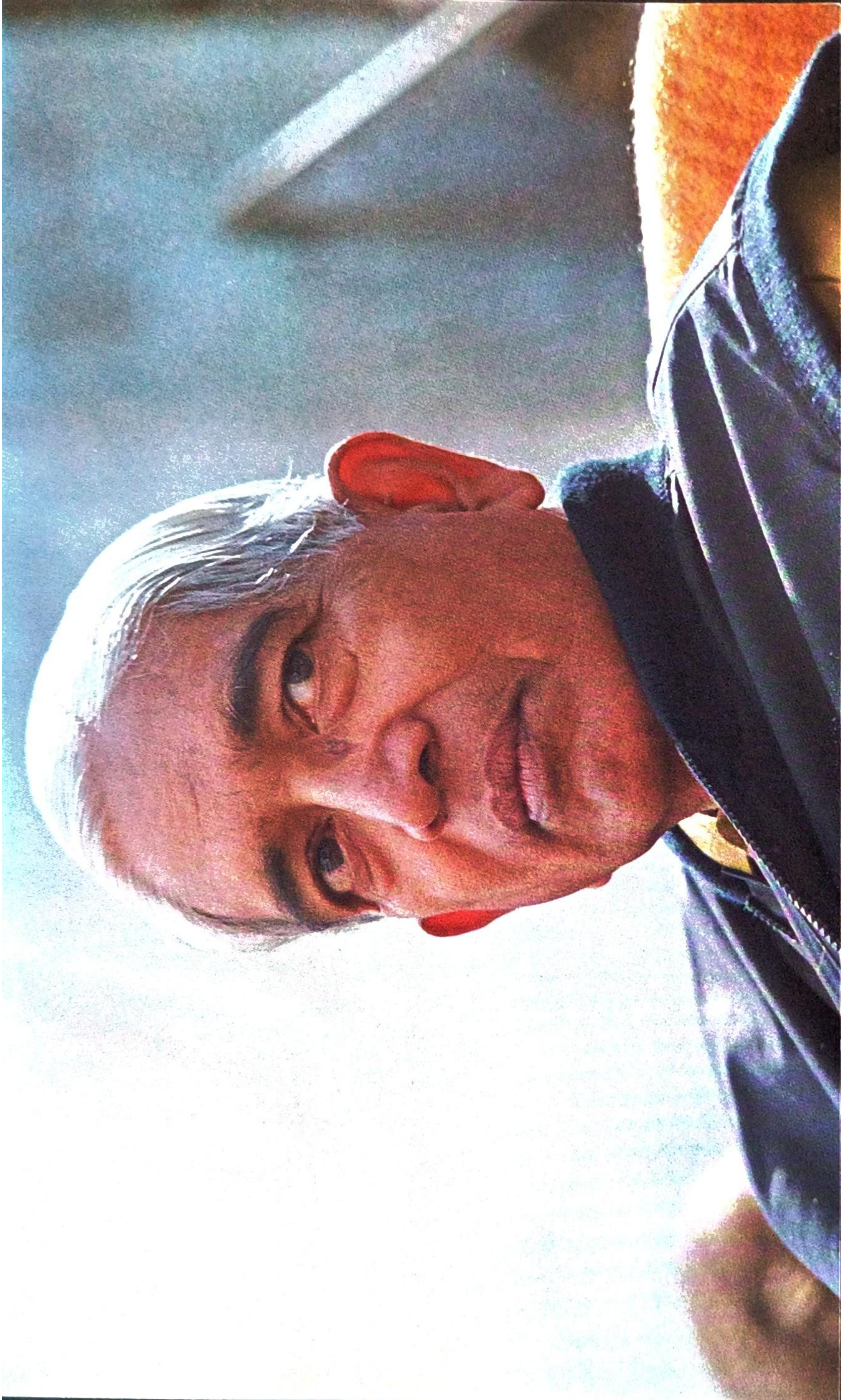

को कुछ नहीं होता। हमारी हालत यह है कि हमें कुछ करने के लिये समय की ज़रूरत है। यही दोनों में अंतर है। समय के उपयोग का अर्थ है – स्वयं के लिये कुछ ऐसा करना जो सकारात्मक, आध्यात्मिक और वृद्धिपरक हो। लेटकर जगे रहना किसी क्रिया–कलाप की श्रेणी में नहीं आता। सोने के लिये एक प्राकृतिक निद्रा–चक्र होता है। यह नहीं कि निठल्लेपन में बराबर लेटे रहें। जब हम कोई काम करते हैं तो हमें काम करना चाहिये। जब हम खेलते हैं तो हमें पूरी तरह मन लगाकर खेलना चाहिये। अगर हमने काम करने के समय काम नहीं किया, खेलने के समय खेला नहीं तो क्या हुआ? स्पष्टतः हमने अवसर गवाँये। इससे किसी क्षेत्र में कोई परिणाम नहीं निकल सकता। काम भी बेकार हो जाता है और खेल भी। अगर बच्चा अनुपस्थित है तो उसने अवसर खो दिया।

वस्तुतः हमारे सामने आया प्रत्येक पल हमारे लिये एक अवसर है जिसे पकड़ने की हमें कोशिश करनी चाहिये। हर पल में सब कुछ निहित है। कोई भी पल किसी काम के लिये नियत नहीं है। सोने, जागने या आनन्द का कोई क्षण नियत नहीं होता। जिस पल हम जो काम करते हैं, वह पल उसी काम के लिये नियत हो जाता है। प्रत्येक पल के गर्भ में अनन्त संभावना, ब्रह्माण्डीय सम्भावना छिपी हुई है। अगर इसी पल मैं इन अनंत संभावनाओं का दोहन कर लूँगा तो मुझे अगले पल की कोई ज़रूरत नहीं रह जायेगी।

समय की आवश्यकता किसे है? उसी को, जिसने अपने समय का उपयोग नहीं किया। जिसने अपने समय का जितना अधिक दुरुपयोग किया उसे समय की उतनी ही कमी बनी रहती है। हर मरने वाला व्यक्ति यह प्रार्थना करता है कि हे भगवान! मुझे कुछ घंटों या कुछ दिनों की मोहलत और दे दो जिससे में अपना अतीत बदल सकूँ, अपना भविष्य बदल सकूँ। लेकिन उस समय तक बहुत देर हो चुकी होती है। जब हम अपने अतीत को दीर्घकाल तक अपरिवर्तित छोड़ देते हैं तब वह नदी की तलछटी में जमी गाद की तरह का हो जाता है। यह ठोस होते–होते चट्टान बन जाता है। अब अगर इसे तोड़ना है तो इसके लिये हमें बारूद की ज़रूरत पड़ेगी।

इसीलिये हमारी पद्धति में दैनिक सफाई का प्रावधान है। अगर हमने आज सफाई नहीं की तो कल यह और अधिक ठोस हो जायेगा। परसों यह और भी ठोस हो जायेगा। स्थूलता की तीन पर्तें जम चुकी होंगी। सबसे नीचे की सबसे ज्यादा ठोस, उसके ऊपर वाली उससे कम ठोस, फिर सबसे ऊपर वाली सबसे कम ठोस। हम केवल ऊपर वाली परत साफ कर पाते हैं, नीचे वाली परतें और ठोस होती जाती हैं। इसलिये जो कुछ करने लायक है, उसे तत्क्षण ही कर लेना चाहिये, और जो करने लायक नहीं है, उसे कभी नहीं करना चाहिये।

ऐसा नहीं कि जो अच्छा काम है उसे अभी कर लिया और ख़राब काम को बाद में करने के लिये छोड़ लिया। सवेरे शौच और शाम में ध्यान करने के बजाय सबेरे ध्यान कर लिया और दिन के 11 बजे शौच किया। समय के उपयोग का अर्थ है – वर्तमान का उपयोग। जिसका कोई वर्तमान नहीं होता उसका कोई भविष्य भी नहीं होता। अगर वर्तमान मेरे हाथ में नहीं है तो भविष्य तो कभी मेरे हाथ में था ही नहीं। केवल अतीत का अस्तित्व होता है जो हमेशा हमें अपनी ओर खींचता रहता है। फिर इस अतीत पर काबू पाने का तरीका क्या है? बस, हर पल सभी बातों से बेख़बर होकर निश्चित भविष्य में बढ़ते जायें। *लेकिन मैं यह तो नहीं जानता कि मुझे किस दिशा में जाना है।* ''आप निश्चिंत रहिये 'वह' आपका मार्गदर्शन करेगा।'' *लेकिन यह 'वह' मुझे मिलेगा कहाँ? मैं उस पर कैसे निर्भर रह पाऊँगा?* जवाब केवल इतना है: उस पर भरोसा रखकर। इसीलिये मैं कहता हूँ कि हमें उस व्यक्ति का, जिसका हमें अनुसरण करना है, चयन बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिये।

बाबूजी ने इस बात को कई बार दुहराया कि अपने गुरु का चयन करने के बाद अपने को उसके साथ लोहे की जंजीरों से बाँध लो ताकि इस बंधन को चाहकर भी, न तो वह तोड़ सकें, न ही तुम। यह बिलकुल सत्य है कि भरोसे के बिना किन्हीं दो व्यक्तियों के मध्य कोई आध्यात्मिक संबंध नहीं स्थापित हो सकता, प्रेम-संबंध भी नहीं हो सकता और न ही बिस्तर का संबंध हो सकता है। आस्थाविहीन संबंध तो पशुओं के

आकसिमक मैथुन संबंध की तरह है। इसमें कभी भी निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि यह व्यक्ति फिर शाम को उसी बिस्तर पर लौटेगा या नहीं। फिर तुम अभी भी उसके बिस्तर में क्या कर रही हो? प्रत्येक स्त्री को स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिये। यही कारण है कि भारत में, ख़ासकर हिन्दू दर्शन में, भगवद्गीता में, समाज को नैतिक बनाने की जिम्मेदारी नारी के कंधों पर डाली गयी। नर तो बीजारोपण करने वाला एक अवसरवादी प्राणी है। वह तो जहाँ भी उसे आनन्द मिले, आनन्द भोगकर चल देने वाला प्राणी है। यह नारियों का धर्म है कि वे वर्जना करें, नैतिकता का वरण करें और नर रूप में जो पशु, समाज में विद्यमान है, उनका द्वार बंद करें।

जिस समाज में स्त्रियाँ सभी प्रकार के आक्रमणों का शिकार हों, हमें समझ लेना चाहिये कि उस समाज से नैतिकता बहुत पहले ही उठ चुकी है। इस तरह के समाज में पुन: प्राण कैसे फूँके जायें? केवल एक ही रास्ता है कि पुन: नैतिकता की पुर्नप्रतिष्ठा की जाये। अभी ज़्यादा देर नहीं हुई है। कभी भी बहुत देर नहीं होती। जब हम चेत जायें, तभी से समझिये कि सवेरा हुआ है। लेकिन इसका अर्थ कभी भी यह मत लगाइये कि : जब कभी भी देर नहीं होती तो जल्दी क्या है? कल से, परसों से शुरू कर लेंगे। आज शाम को तो मेरा एक लड़के से मिलना तय है। और कल एक अन्य लड़के से मिलना है, उसके बाद बस! उसके बाद शुरू कर देते हैं। इस तरह कभी भी संभव नहीं है कि हम काम शुरू कर पायें। अगर हम अभी से काम शुरू नहीं करते तो हो सकता है कि कल हमारे लिये कभी आये ही नहीं।

इसीलिये आध्यात्मिकता कहती है : अभी और यहीं। इसमें अनंत संभावनायें छिपी हैं। वस्तुत: *अभी और यहीं* का यह दर्शन अद्भुत है। हम बेकार भविष्य के सपने देखते रहते हैं। मेरी राय में ऐसा करना हमारी मूर्खता है। जब मैं इसी क्षण अपनी ज़रूरत की सारी चीजें पा सकता हूँ, इसी क्षण दिव्य बन सकता हूँ, जब इसी पल सारी संभावनायें फलवती होने के लिये मेरे सामने खड़ी हैं, तो फिर हम व्यर्थ समय क्यों गँवा रहे हैं।

कौन बच्चा भविष्य में खिलौना चाहेगा? वह कहता है : मम्मी! मुझे तो यह खिलौना आज ही चाहिये। कौन ऐसा सरकारी नौकर है जो दस साल बाद अपनी पदोन्नति या वेतन में वृद्धि चाहता है? फिर आध्यात्मिकता को ही भविष्य के गर्भ में क्यों छोड़ दिया जाये? ऐसे भविष्य पर, जिसमें कोई संभावना ही न हो, जिसमें हर तरफ से द्वार बंद हों और जिसे देखने के लिये संभवत: हम जीवित भी न रहें। ये ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हें हमें अपने आप से पूछना चाहिये। हमें चाहिये कि हम अपने भविष्य को अपने वर्तमान में लाकर प्रतिस्थापित करें।

आश्रम का वस्तुत: यही प्रयोजन है। मैं कल या परसों किसी को बता रहा था कि हमारे ये आश्रम, मठ नहीं हैं, जहाँ आत्मग्लानि और लज्जा से दबे व्यक्ति आत्मप्रक्षालन के लिये आते हैं। यह प्रसाधन कक्ष नहीं हैं। एक आश्रम किसी भी व्यक्ति के लिये संभावनाओं से भरी हुई वह जगह है, जहाँ वह सिर उठाकर प्रवेश करने की सामर्थ्य रखता है। उसके मन में यह भाव रहता है कि मैं जैसा भी हूँ, यहाँ हूँ। हाँ, मेरे अंदर यह कहने की सामर्थ्य ज़रूर होनी चाहिये, इसके लिये मेरे अंदर इच्छाशक्ति ज़रूर होनी चाहिये कि – हे मालिक! मुझे आप जो कुछ भी बनाना चाहते हैं, ज़रूर बना दीजिये।

धन्यवाद!

3
दिव्य सिद्धांत

ब्रिगिट स्मिथ आज मेरे लिये एक पुस्तक लायी थी और कोई व्यक्ति मुझसे पूछ रहा था कि घंटी पर चोट मारने से उत्पन्न, और घंटी पर बिना चोट मारे उत्पन्न ध्वनि में क्या अंतर है? प्रश्न थोड़ा अलग किस्म का है लेकिन योग की दृष्टि से यह बहुत सामान्य है। हम हमेशा शांति के बारे में चर्चा करते हैं। अगर आपको याद हो तो बाबूजी महाराज ने कहा है कि ईश्वर की भाषा मौन है। मैंने देखा है, और आप सबने भी देखा है कि वे अदृश्य रूप से लालाजी महाराज से बातें किया करते थे। वे अपना सिर हिलाकर *हाँ-हाँ* की ध्वनि भी किया करते थे। ऐसा लगता है कि वे प्रत्यक्षत: कुछ इस तरह की ध्वनि सुना करते थे जिसे हम नहीं सुन पाते थे।

वस्तुत: एक ध्वनि होती है जो बोली नहीं जाती बल्कि सीधे स्रोत से आती है और सुदूर किसी छोर पर स्थित संग्राहक इस ध्वनिविहीन आवाज़ को सुन लेता है। जब हम लोग कमरे में बैठे थे, मैं इसी विषय पर मनन कर रहा था। मुझे प्रकाश के संबंध में अपना एक अनुभव याद आया। इस अनुभव ने मुझे लम्बे समय तक परेशान रखा। अब देखिये! जब हम आसमान की ओर देखते हैं तो हमें प्रकाश नज़र नहीं आता लेकिन जब हम किसी ग्रह को देखते हैं तो पाते हैं कि वहाँ प्रकाश है जो ग्रह को

वेड्स सैन आश्रम- डेनमार्क (सायंकालीन वार्ता) 22 अगस्त 1992

आलोकित कर रहा है और हमारे लिये भी अपने आप को दृष्टिगोचर बना रहा है। यहाँ एक रहस्य समझ में आता है। प्रकाश स्वयं अदृश्य रहकर भी वस्तुओं को दृष्टिगोचर बनाता है। इसी प्रकार ईश्वर की भाषा 'मौन' है जो स्वयं सुनने योग्य न रहते हुये भी चीज़ों को सुनने योग्य बनाती है।

इस पर अगर हम गहराई से विचार करें तो पायेंगे कि मूल या स्रोत पर वस्तुओं का गुण विपरित होता है। जो चीज़ वस्तुओं को दृश्यमान बनाती है वह स्वयं दृश्यमान नहीं होती। आख़िरकार जब हम वॉयलिन या झाँझ पर चोट करते हैं तब उसी वस्तु से तो ध्वनि पैदा कर रहे होते हैं जिसमें पहले ध्वनि नहीं थीं। आध्यात्मिकता इन तमाम विरोधाभासों से भरी पड़ी है।

अब मैं इस विचार पर पहुँचा हूँ, जिसको मैं इधर कुछ समय से सोच भी रहा हूँ कि हमारी प्राणाहुति में क्या होता है? प्रकाश, जो स्वयं अदृश्य है, किसी वस्तु की बाहरी सतह को आलोकित कर उसे दिखने योग्य बना देता है। उसी तरह आध्यात्मिक प्रकाश भी, जो स्वयं अदृश्य है, किसी तरह अंदर प्रवेश करके अंदर से हमें आलोकित करता है। मेरे मालिक ने प्राणाहुति की परिभाषा देते हुये यह बताया भी है कि यह व्यक्ति के रूपान्तरण हेतु दिव्य ऊर्जा का उपयोग है। दूसरी तरह से हम कह सकते हैं कि यह 'बलहीन बल' है या 'ऊर्जाहीन ऊर्जा' है।

दिल्ली से चलने से पहले मैंने एक छोटी सी वार्ता दी थी जिसमें मैंने व्याकरण के बारे में बताते हुये कहा था कि संज्ञा किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तु के नाम को कहते हैं। अब यह तो तय है कि ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। अगर वह कोई व्यक्ति होता तो उसका भी जन्म होता, उसकी भी मृत्यु होती। उसका कोई आकार होता, उसका कोई रंग होता। वह किसी स्थान पर विद्यमान होता। उसकी अपनी कोई भौगोलिक स्थिति होती। लेकिन वह ऐसा नहीं है क्योंकि लोगों ने उसे बहुत खोजा है। उसे हर नाम से पुकारा है लेकिन वह कभी प्रकट नहीं हुआ। लोगों ने उसे सभी वस्तुओं में देखने का प्रयास किया लेकिन वह कहीं प्रकट नहीं हुआ। निष्कर्ष बिलकुल स्पष्ट है : ईश्वर न तो कोई व्यक्ति है, न स्थान और न ही कोई वस्तु। फिर आख़िर ईश्वर है क्या?

किसी दिन शाम को मैं इन्हीं बातों पर मनन कर रहा था तो मेरी समझ में आया कि यह सारतत्व है। जैसे प्रसन्नता एक अवस्था है वैसे ही ईश्वर एक सिद्धान्त है। हम किसी वस्तु में प्रसन्नता नहीं पा सकते लेकिन जब भी हम प्रसन्न होते हैं, वस्तुयें हमें सुंदर और मनोनुकूल लगती हैं और हम समझने लगते हैं कि हम किसी वस्तु के कारण प्रसन्न हैं। मैं खुश हूँ, मैंने आज *आइसक्रीम* खायी। सामान्य तौर पर मैं जब भी प्रसन्न होता हूँ, *आइसक्रीम* खाता हूँ। मैंने अपने अनुभव में पाया है कि उदासी के क्षणों में मैं *आइसक्रीम* नहीं खा पाता। पिज़्ज़ा नहीं खा पाता। ये चीज़ें तो मैं तभी खा सकता हूँ जब मैं प्रसन्न होऊँ। इस दुनिया में केवल एक ही व्यक्ति है जो मुझे समझ पाया है, वह व्यक्ति हमेशा कहता है : ओह! आज तो आपके *आइसक्रीम* खाने का समय है। क्योंकि वह मेरी आंतरिक अवस्था को देख लेता है कि मैं आज प्रसन्न हूँ।

सचमुच अगर हमारे अंदर प्रसन्नता नहीं है तो बाहर की कोई भी वस्तु हमें कभी प्रसन्न नहीं कर सकती। यह प्रतिध्वनि जैसी प्रक्रिया है। अगर हम किसी पहाड़ की चोटी पर जाकर किसी दूसरे पहाड़ की चोटी की ओर मुँह करके आवाज़ लगायें तो हमें अपनी ही आवाज़ लौटकर आती हुई सुनाई देती है। सार रूप में अगर देखा जाये तो, जो कुछ हमारे अंदर है, वही हम अपने बाहर भी देख पाते हैं। अगर हम उदास हैं तो हमें सारी वस्तुयें निस्सार दिखायी देती हैं : हे भगवान, पिज़्ज़ा! ''लेकिन कल तो तुमने पिज़्ज़ा खाया था?'' हमें यह कहने में संकोच होता है कि कल मैं प्रसन्न था इसलिये मुझे पिज़्ज़ा अच्छा लगा था और आज मैं उदास हूँ इसलिये पिज़्ज़ा मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। इस पर अगर हम ग़ौर से मनन करें तो पायेंगे कि जो मेरे अंदर नहीं है, उसे मैं अपने से बाहर कतई नहीं पा सकता। चाहे वह कोई भी चीज़ हो।

अगर हमें बाहर साहस की तलाश है तो ज़रूरी है कि मेरे अंदर साहस हो। साहस एक गुण है, यह भाले या बंदूक में नहीं होता। प्रसन्नता एक अवस्था है, ईश्वर एक सिद्धान्त है और जिसमें भी यह सिद्धान्त विद्यमान है, वह दिव्य प्राणी है। इसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु ईश्वर नहीं

है। अगर कोई ईश्वर है तो वह इस सिद्धान्त के रूप में ही सर्वत्र विद्यमान है। उसे किसी निश्चित स्थान या समय में नहीं पाया जा सकता। अगर यह एक सिद्धान्त है तो इसे हर काल में, हर स्थान पर, हर वस्तु में, सर्वत्र होना चाहिये। इसलिये उसे यहाँ भी, और इस क्षण भी होना ही चाहिये। एक सिद्धान्त होने के नाते इसे सर्वव्यापी होना ही चाहिये। इसीलिये हम ईश्वर की इस परिभाषा पर पहुँचते हैं कि वह सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और सर्वसारभूत तत्त्व है।

फिर भी हम यह कहने की ग़लती कर ही जाते हैं कि 'वह' सब जगह है, सभी वस्तुओं में है और हर समय है। स्त्रियाँ कह सकती हैं कि वह स्त्रीलिंग क्यों नहीं है, वह पुलिंग क्यों है? ईश्वर का जब भी हम वैयक्तिकरण करेंगे, इसी तरह की हास्यास्पद स्थितियाँ पैदा होंगी। इस तरह जब भी ईश्वर की परिभाषा करने की कोशिश करते हैं, हमारी स्थिति हास्यास्पद बन जाती है। हम कभी उसे मत्स्य के रूप में, तो कभी वराह के रूप में, तो कभी सॅमसन डेलिला के रूप में देखने की कोशिश करते रहते हैं। ईश्वर सॅमसन के केशों में निवास करता है। जब उसके केश वापस उग आये तो उसकी शक्ति उसे वापस मिल गयी। हमारी कल्पना में ईश्वर व्हेल मछली, मुर्गे, मूर्ति, स्तम्भ, क्रॉस या खाली दीवार में भी निवास करता है। इस तरह हम पाते हैं कि ईश्वर की स्थिति किसी स्थान में या सांसारिक काल-धारणा के संदर्भ में नहीं देखी जा सकती।

इसीलिये मैं तो कहता हूँ कि जो कोई भी यह कहता है कि उसने ईश्वर को देखा है, उसे छुआ है, वह या तो दिग्भ्रमित है या झूठा है। जो मेरे अंदर है, उसे मैं अपने से बाहर कैसे देख सकता हूँ? लेकिन दूसरों को तो मेरे अंदर ईश्वर दिखना ही चाहिये और हमें भी दूसरों में ईश्वर दिखना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि कोई दिव्य व्यक्ति भी यह नहीं जान सकता कि वह दिव्य है या नहीं, फिर ईश्वर, जो सबसे बढ़कर है, वह स्वयं कैसे जान सकता है कि वह ईश्वर है।

बाबूजी महाराज ने भी कहीं कहा है कि ईश्वर भी नहीं जान सकता कि वह ईश्वर है, क्योंकि जब वह जान रहा है कि वह ईश्वर है तो 'ईश्वर' और

'ईश्वर को जानने वाला' दो उपस्थित हो जाते हैं। तत्काल वहाँ द्वैत-भाव उत्पन्न हो जाता है। इस पर हम आगे मनन करें, तो पायेंगे कि चूँकि ईश्वर सचेतन नहीं है तो उसके पास मन भी नहीं हो सकता। सहज मार्ग का मत इस विषय में बिलकुल स्पष्ट और दृढ़ है। अगर हम ईश्वर को सचेतन मान लें तो अचेतनता के भी कालखण्ड उसकी ज़िन्दगी में आयेंगे, वह गहन मूर्च्छा में जा सकता है। वह निद्रालीन हो सकता है। हमारें यहाँ तो ईश्वर को सचेतन मानकर उसे सवेरे जगाने और शाम को सुलाने जैसी मूर्खतापूर्ण कर्मकाण्ड की क्रिया भी की जाती है। समस्या यह है कि हम ईश्वर को भी व्यक्ति मानकर उसके साथ मूर्खतापूर्ण खिलवाड़ करते रहते हैं।

वैसे भी हम यह कहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी प्रतिकृति के रूप में पैदा किया है। इस तरह अगर हम सोचें तो ईश्वर के भी दो हाथ, दो पैर होने चाहिये। लेकिन जब हम ईश्वर को एक सिद्धान्त के रूप में मान लेते हैं, तब ये सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि दिव्यता तो सारतत्व है, यह सर्वव्यापक है और यही मूल कारण है। यह वह सिद्धान्त है जो किसी भी वस्तु को दिव्य बना देने में सक्षम है।

कई लोग यह जानना चाहते हैं कि प्रसाद चढ़ाने में क्या रहस्य है। कई लोगों ने मुझे बताया कि जब वे प्रसाद चढ़ाते हैं तो मालिक की उपस्थिति का एहसास करते हैं। अचानक ऐसा लगता है जैसे सारा स्थान आलोकित हो उठा हो, कहीं से एक नयी पवित्रता तथा निर्मलता उतरती प्रतीत होती है। फिर लोग कहते हैं : मैंने मालिक की उपस्थिति का एहसास किया। ग़ौर से सोचा जाये तो यह कथन सत्य भी है क्योंकि उनकी उपस्थिति विशिष्ट रूप से वहाँ प्रकट तो होती ही है। लेकिन यह कथन त्रुटिपूर्ण भी है क्योंकि वह उपस्थित नहीं हो सकता, वह तो वहाँ पहले से विद्यमान हैं ही। हम उन्हें इस कमरे मे विद्यमान वायु की भाँति समझ सकते हैं जो निश्चल है, गतिविहीन है और हम जिसका अनुभव नहीं कर सकते। अगर यही वायु गतिवान हो जाये तो हम बयार के रूप में इसका अनुभव कर सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जब वायु निश्चल होती है तो

हमें इसका अनुभव नहीं होता लेकिन जब यह चलायमान होती है तो हम इसका अनुभव करने लगते हैं।

इसी तरह जब यह दिव्य चलायमान होता है तब हम उसकी उपस्थिति का एहसास करते हैं। अब प्रश्न यह है कि इसे चलायमान कौन करता है? यह हमारे अंदर स्थित दिव्यता के सार की अभिव्यक्ति है जो इसे चलायमान करती है। अंग्रेजी भाषा में जब हम अपने अनुभवों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं तो वह कुछ इस तरह होता है कि यह एक मर्मस्पर्शी अनुभव था या संगीत मर्मस्पर्शी था या उसकी दशा चलायमान कर देने वाली थी या मैं उसका प्रेम देखकर चलायमान हो उठा। यहाँ भी प्रश्न यह है कि यह चलायमान करने वाला कौन है? यथार्थत: यह हमारे हृदय में स्थित दिव्य तत्त्व की हलचल है जो गतिशील हो उठता है। बिलकुल उसी तरह जिस तरह की हलचल का वर्णन बाबूजी ने क्षोभ का वर्णन करते हुए किया है। हमारे हृदय में जब भी वह क्षोभ उठता है, यह दिव्य तत्त्व उन्मुक्त हो जाता है और प्रेम का प्रवाह होने लगता है। इसलिये प्रेम करने के लिये भी यह ज़रूरी है कि हम अपने अंदर के दिव्य तत्त्व को क्रियाशील करने में सक्षम हो जायें और ऐसा केवल तभी संभव है जब हम अपने हृदय में ईश्वर की उपस्थिति को मान्यता दें। हम कहते हैं : नहीं, नहीं, ईश्वर मुझे प्रेम नहीं करता। आख़िर वह हमें कहाँ से प्रेम करेगा? हम तो ईश्वर के साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हैं जैसे वह किसी स्त्री का पति हो या किसी पुरुष की पत्नी हो। वह आकर हमें चुमें, हमारा आलिंगन करे, हमें सांत्वना दे।

मुझे यह बात कभी समझ में नहीं आती कि ईश्वर हमें प्रेम कैसे कर सकता है? वह तो मेरे अंदर विद्यमान है, हमें गतिशील बनाये हुये है। जब कभी भी किसी कारण ऐसी अवस्था पैदा होती है, हमारे अंदर की आत्मा जागृत हो उठती है। हमारे अंदर व्याप्त सुषुप्त दिव्य तत्त्व जागृत हो उठता है। मालिक हमें 24 घंटे प्राणाहुति देते रहते हैं। यह प्राणाहुति और कुछ नहीं उसी दिव्य तत्त्व का अटूट प्रवाह है, इससे हमारे अंदर उत्पन्न हुआ क्षोभ भी अटूट हो जाता है।

बाबूजी ने कहा कि सृष्टि के प्रारम्भ में क्षोभ उत्पन्न हुआ और उस समय जो कुछ भी विद्यमान था, उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। हमारी इस सृष्टि की रचना के लिये वह एक क्षोभ ही पर्याप्त था। लेकिन यहाँ हमारे अंदर इस क्षोभ के निरंतर विद्यमान और सक्रिय रहने की संभावना मौज़ूद है। आख़िर हमारे अंदर बसे इस क्षोभ की, दिव्यता की रचनात्मक क्षमता क्या है? यह सृष्टि तो उस क्षोभ से उत्पन्न नतीजे का एक छोटा नमूना है केवल हमें जताने के लिये। मैं निस्पंद था, एक बार स्पंदित हुआ, और देख लो! वाक़ई कितनी बड़ी सृष्टि अस्तित्व में आ गई, और अभी तक इसके फैलने की प्रक्रिया जारी है। अगर तुम इजाज़त दे दो तो मैं तुम्हारे अंदर से क्या नहीं कर सकता।

यह भौतिक सृष्टि उसी क्षोभ का एक उदाहरण है। अगर हम अपने अंदर स्थित दिव्य तत्त्व को उन्मुक्त करने के लिये तैयार हों तो हमें पता चलेगा कि हम क्या-क्या कर सकते हैं। अब सवाल यह है कि इसको हम उन्मुक्त कैसे करें? न भय हो, न पूर्वाग्रह, न संशय और न ही कोई सीमाबद्धता। यहाँ यह नहीं चलेगा कि हम अपनी पसंद के मुताबिक़ किसी को प्यार करें। मेरे अंदर विद्यमान ईश्वर – दिव्य तत्त्व मेरी पसंद के अनुसार क्रियाशील होने से इन्कार कर देगा। इसलिये इसे शाश्वत रूप से सक्रिय करने के लिये एक ही मार्ग है कि हम अपने मन से पसंदगी या नापसंदगी का विचार त्याग दें। मेरी कोई पसंद नहीं होनी चाहिये, न ही मेरे पास कोई विकल्प होना चाहिये।

मेरी उपस्थिति में कुछ भी अच्छा नहीं है और न ही कुछ बुरा है। हमारे लिये न तो अच्छाई का महत्त्व है और न ही किसी प्रकार की बुराई का। मेरी उपस्थिति में पात्रता या अपात्रता का भी कोई महत्त्व नहीं है। ''यह तो ठीक है; लेकिन चारीजी, आपने ही कहा था कि कोई भी कामना करने से पहले अपने अंदर पात्रता विकसित करो।'' हाँ, बाबूजी महाराज ने ऐसा ज़रूर कहा था। अब यह आपके अनुभव करने की बात है। यह आपके अनुभव में आना चाहिये कि आप पात्र हैं या नहीं। बाबूजी ने कभी किसी को मना नहीं किया। यह तो एक भाव है, जो पश्चाताप करने वाले

जिज्ञासुओं के रूप में हम अपना लेते हैं और कहते हैं : हे नाथ! हे मेरे स्वामी! मैं अपात्र हूँ, कृपा करके आप मुझे पात्र बनाइये। यह संभवतः इसलिये कहा गया है कि हम विनम्र होकर मालिक से प्रार्थना करें। इसके अतिरिक्त इसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता। मैं यह भी नहीं जानता कि वे किस प्रकार हमें सुपात्र बनायेंगे। मेरी राय में तो ऐसा हमारे सहयोग से ही संभव है।

वस्तुतः पात्रता ऐसा गुण है जो एक अभ्यासी होने के नाते हमें अपने अंदर विकसित करना चाहिये। यह प्रार्थना कि "हे मेरे स्वामी! मैं आपको अपने मन-मंदिर में बसाने का आकांक्षी हूँ। आपकी उपस्थिति के लिये मैं ख़ुद को अकिंचन समझता हूँ। मुझे इस बात का भी एहसास है कि मेरे अंतर में स्थित आपका धाम पवित्र नहीं है। यह आपके निवास करने योग्य नहीं है," हमारी तड़प और हमारी विनम्रता का एक नमूना है। इसी अर्थ में हम अपात्र हैं।

हमारी पद्धति कहती है : अपना निर्मलीकरण करो। यह बहुत आसान है। आख़िर यह आश्रम पहले अस्तबल ही तो था। आज निर्मलीकरण के बाद यह कितना सुंदर आश्रम बन गया है। इस पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि दिव्य बनने की चाहत हमारे ऊपर निषेधाज्ञा लागू कर देती है। दिव्य कभी चयन नहीं करता। प्रकाश कभी इस बात का चयन नहीं करता कि उसे किस वस्तु पर गिरना है। यहाँ पापी हैं, संत भी हैं, संभावित पापात्मायें हैं और संभावित संत भी हैं। ईश्वर हैं, पदार्थ हैं, वायु है और सारे पंचमहाभूत भी हैं, फिर भी प्रकाश के लिये यह अंतर कोई मायने नहीं रखता। वह निष्पक्ष भाव से चमकता है। अगर वह भी विकल्प रखता तो वह भी सीमाबद्ध हो जाता। प्रकाश की यह पसंदगी या नापसंदगी कि मैं यहाँ चमकूँगा और यहाँ नहीं चमकूँगा, क्या उसे सीमा में नहीं बाँध देता? इसी प्रकार जब हम प्रेम करते समय किसी विकल्प को अपने सामने रखते हैं कि मैं इससे प्रेम करूँगा और इससे नहीं करूँगा, तो हम अपने को सीमा में बाँध रहे होते हैं, अपने ऊपर सीमाबद्धता थोप रहे होते हैं।

अब फिर प्रश्न उठता है कि इस सीमाबद्धता को हटायें कैसे? जवाब केवल इतना है कि अपनी हर पसंद का त्याग कर दो। चयन करने का अधिकार त्याग दो – यही समर्पण है। इसीलिये कहा जाता है कि केवल समर्पण ही वह तत्त्व है जो हमारी सीमाओं को मिटा सकता है और हमारे अंदर स्थित दिव्य सिद्धान्त को शाश्वत और सार्वभौमिक रूप से सक्रिय कर सकता है। समर्पण के बिना हम मानवीय रूप से भी कभी दयालु नहीं हो सकते और न ही कभी निर्दयी हो सकते हैं। अधिकांश समय दोनों ही नहीं हो सकते। लेकिन उस दिव्य सारतत्त्व के प्रवाहित होते ही न हम दयालु रह जाते हैं, न निर्दयी, न हर्षित, न उदास, न जीवित और न ही मृत। जैसा बाबूजी महाराज ने कहा : हम आध्यात्मिकता के परम लक्ष्य में स्थित हो जाते हैं। इस अवस्था का वर्णन हम जीवित लाश के रूप में भी कर सकते हैं जिसे हर अभ्यासी को प्राप्त करना ही चाहिये। इस स्थिति में होता यह है कि हम मर जाते हैं और हमारे अंदर स्थित सार तत्त्व जी उठता है। ये कुछ विचार थे जिन्हें मैं आप लोगों के सम्मुख रखना चाहता था। मेरा निवेदन है कि आप इस विचारों पर मनन करें।

धन्यवाद!

4
जीवन मे अपने उद्देश्य के प्रति जागरूक हों

एक बार मैंने जैकी से कहा था : जो व्यक्ति सेवा करता है, उसे सेवा मिलती है लेकिन जो सेवा पाने की लालसा पाल लेता है, उसे सेवा नहीं मिलती। सबको यह बात याद रखनी चाहिये। अब मैं ज़रा अपने व्याख्यान में थोड़ी औपचारिकता का पुट दे दूँ। मैं आप लोगों को यहाँ देखकर बहुत खुश हूँ। सालों पहले, एक अरसा गुज़र गया, बाबूजी के साथ मैं डेनमार्क आया था। आप जानते ही हैं कि बाबूजी महाराज का दिल यहाँ है और इसलिये मैं स्पष्टता से कह सकता हूँ कि मेरा दिल तो हमेशा से यहीं है। मैं समझता हूँ कि मिशन में डेनमार्क के लिये यह काल, सुषुप्ति का काल रहा है। मैं इस बात को कई बार दुहरा चुका हूँ। हो सकता है कि यह आपको ख़राब भी लग रहा हो। मैंने कई साल पहले एक पुस्तक पढ़ी थी, संभवत: इसके लेखक एच. जी. वेल्स थे। शीर्षक था – सोते हुए मनुष्य का जगना। अब यह तो इस पर निर्भर करता है कि सोया कौन है। अगर कोई सामान्य आदमी सोया है तब तो कोई ख़ास बात नहीं है, लेकिन अगर कोई महाकाय आदमी सोया है तो सोचना पड़ेगा। मेरी राय में डेनमार्क में ज़्यादा लोगों के महाकाय बनने की संभावना विद्यमान है। बाबूजी ने कहा है कि डेनमार्क आध्यात्मिकता की राजधानी बनेगा। मुझे

आज यह देखकर खुशी हो रही है कि बाबूजी महाराज का सपना साकार होता हुआ दिख रहा है। अभी तो शुरुआत हुई है।

हमें यह भी याद रखने की ज़रूरत है कि आध्यात्मिकता में कभी किसी को आत्मतुष्ट होकर आनन्दपूर्वक नहीं रहना चाहिये। इससे उसकी प्रगति रुक जाती है। जैसे ही आराम से बैठ जाते हैं, हमारा प्रयास रुक जाता है और हमारी प्रगति रुक जाती है। डेनमार्क के निवासियों! मैं आपको आह्वान करता हूँ कि अपनी कमर कसकर तैयार हो जायें और आगे बढ़ें। चीज़ों को फिर से चलायमान बनाइये और जो सपना बाबूजी ने आप लोगों के लिये देखा था, उसे साकार बनाइये। अकसर लोग मुझसे, गुरु के प्रति प्रेम कैसे पैदा हो, यह प्रश्न किया करते हैं। मेरा मानना है कि मालिक के प्रति हमारा प्रेम केवल विचार, भावना और आँसुओं के रूप में प्रदर्शित नहीं होना चाहिये, बल्कि यह उनके प्रति हमारे कर्त्तव्य के निर्वाह के रूप में दिखना चाहिये। मेरी राय में तो आँसू केवल दुर्बलता का परिचायक है। हमें उनके प्रति अपना प्रेम इस धरती पर उनके सपनों को साकार करके प्रदर्शित करना चाहिये।

ख़ासकर मैं डेनमार्क के प्रशिक्षकों का इस बात के लिये आह्वान करता हूँ। भारत के अलावा इतने पूर्ण प्रशिक्षक और कहीं नहीं हैं। पता नहीं किस मक़सद से बाबूजी ने यहाँ इतना बड़ा कार्य किया है। हमारा और आपका कर्त्तव्य है कि हम मिलकर उनके इस मक़सद को पूरा करें। एक बार फिर से मैं आपका आह्वान करता हूँ कि आप अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति जागृत हो जाइये। आपका समर्पण शब्दों में नहीं कर्म के रूप में परिलक्षित होना चाहिये। उनके प्रति आपका प्रेम, भावनाओं में नहीं उनके प्रति आपके कर्म में अभिव्यक्ति होना चाहिये। उनका सपना हमें पूरा करना है। वे योजना बनाने वाले थे, हमें उसका क्रियान्वयन करना है। मुझे आशा है कि भविष्य में हम उनके सपनों को साकार कर सकेंगे।

यह सच है कि इस कार्य में आपकी सहायता करने के लिये मैं कर्त्तव्यबद्ध हूँ किन्तु कार्य तो आपको ही करना है। मैं तो केवल आपकी सहायता ही कर सकता हूँ। इस बात को आपको हमेशा याद रखना चाहिये

कि इस कार्य की सिद्धि के लिये वे उत्तरदायी नहीं हैं, यह उत्तरदायित्व तो हमारा है। उनका काम है हमारा मार्गदर्शन करना, और हमारा काम है उनका अनुसरण करना। वे हमें लक्ष्य बताते हैं, और हमारा काम है उस लक्ष्य पर पहुँचना। वे हमें बताते हैं कि हमें क्या बनना है, और हमें ऐसा बनने का प्रयत्न करना है। यही हमारा कर्त्तव्य है, हमारा उत्तरदायित्व है और हमारे जीवन की खुशी भी इसी में है। मेरा मानना है कि इस कार्य के लिये डेनमार्क एक अच्छा क्षेत्र है। मैं यह बात 1971 से कहता आ रहा हूँ। मुझे यहाँ उपस्थित सभी लोगों से काफी आशायें हैं। सभी में - फ्रांसीसी, युगोस्लाव, स्वीड् (स्वीडनवासी), डेनस् (डेनमार्कवासी) सब शामिल हैं क्योंकि आध्यात्मिकता को किसी व्यक्ति, देश या क्षेत्र में सीमित नहीं किया जा सकता है।

मेरे विचार से यह केवल संयोग नहीं है कि यूरोप के दो छोरों पर हमारे दो ध्यानमंडप विद्यमान हैं - एक मोन्टपेलियर में और दूसरा यहाँ। ठीक वैसे ही जैसे चुम्बक के दो ध्रुव हों - उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव। अब जहाँ चुम्बक होता है वहाँ चुम्बकीय क्षेत्र तो होता ही है जो उस चुम्बक के चारों ओर फैला रहता है। यही स्थिति यूरोप के हमारे आश्रमों की है - एक आश्रम उत्तरी यूरोप में ऑजराँ में है जो दूसरा आश्रम दक्षिणी यूरोप में व्रेड्स सैन में है। इस काम को यों कहा जा सकता है कि चुम्बकीय ध्रुवों को प्रबल बनाया जा रहा है। अब अगर यह काम आगे नहीं बढ़ता तो केवल इसलिये कि हम इसमें प्रतिरोधक की भूमिका निभा रहे हैं। इसलिये यह कहना कि ईश्वरीय कार्य को रोका नहीं जा सकता, ठीक नहीं है। मेरी समझ में तो ईश्वरीय कार्य को रोका जा सकता है। जब भी हम मानवता का इतिहास पढ़ते हैं, हमें अंधयुगों, अंधशताब्दियों, अज्ञानतापूर्ण, मूढ़तापूर्ण, अंधविश्वासपूर्ण शताब्दियों, दो मुँही धार्मिक भावनाओं, तथाकथित अविश्वास, जादू-टोनों की बातें करनी पड़ती हैं। ये वही कालखण्ड थे जब इस धरती पर ईश्वरीय कार्य रोक दिया गया था।

इसीलिये हमें इस बात का ध्यान रखते हुए कार्य करने का प्रयास करना है कि मानवता के इतिहास में यह अंधयुग फिर से न आवे। इसे आने से रोकना हमारा उत्तरदायित्व है। मैं इसे फिर से दुहरा दूँ कि हमें केवल अपनी यह उच्चस्तरीय जीवन शैली ही नहीं पानी है अपितु, हमें श्रेष्ठ, साहसपूर्ण और उद्देश्यपूर्ण जीवन शैली स्थापित भी करनी है, न केवल अपने लिये वरन् आने वाली सभी भावी पीढ़ियों के लिये। हमारे गुरुओं ने, लालाजी महाराज और बाबूजी महाराज, दोनों ने हमारे लिये ये कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं। इसका खुशी-खुशी सिद्धिकरण करना हमारे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी। केवल हमारी यही उपलब्धि हमारे बच्चों, पोतों, परपोतों और उनकी संतानों, जिन-जिन से हम प्रेम करते हैं, का स्वर्णिम भविष्य सुनिश्चित कर सकती है।

धन्यवाद!

5

देते रहने का तत्त्व-ज्ञान

अंग्रेजी भाषा में एक कहावत है - seeing is believing ; इसका मतलब है कि किसी चीज़ को देखकर ही भरोसा होता है। कल मुझे एक ऐसा अनुभव हुआ जिसने मेरी आँखें खोल दी। इससे मेरे सिर में दर्द भी शुरू हो गया। यहाँ बैठा-बैठा मैं सड़क के उस पार बने मकान को देख रहा था। इसे देखकर मैं चिन्तित हो उठा क्योंकि उस मकान के सारे कोण ही ग़लत थे। समान्तर तल समान्तर नहीं थे। अब तक मेरी धारणा थी कि यूरोप में हर चीज़ बिलकुल ठीक बनती है, कम से कम भौतिक धरातल पर। लेकिन मैंने शायद ऐसी ग़लती उस मकान में देखी जो उसमें थी ही नहीं। इसी बात से कल मेरे सिर में दर्द हो गया। रात में मैं जब यहाँ आकर बैठा तो मैंने अभ्यासियों से उस भवन के बारे में ज़िक्र भी किया। अभ्यासियों में से ही किसी ने मुझसे कहा कि जो आपने देखा, वह सही है क्योंकि वह मकान जैसा है, वैसा उसे होना नहीं चाहिये था। समान्तर तल समान्तर नहीं है क्योंकि वहाँ जमीन धस रही है। इसी को कहते हैं : देखकर भरोसा करना। इसीलिये कहा जाता है कि जो आप देखते हैं उस पर पूरा भरोसा मत कीजिये, जो आप सुनते हैं, उस पर भी पूरा भरोसा मत कीजिये। अब मेरी आँखों ने तो मुझे सही सूचना ही दी लेकिन भावार्थ

कोपेनहेगेन- डेनमार्क में प्रात:कालीन वार्ता-29 अगस्त 1992

ने सिरदर्द पैदा कर दिया। मैं आपको केवल यह बताने की कोशिश कर रहा हूँ कि हमारी इन्द्रियाँ बहुत ही सुविचारित ढंग से बनायी गयी हैं। इसलिये हमें उन पर पूरा भरोसा करना चाहिये। जब आँख कह रही है कि मकान निर्माण में कुछ त्रुटियाँ हैं और यह समान्तर तल में नहीं है तो हमें इसे मान लेना चाहिये। लेकिन इसे मानने की जगह मैंने कुछ मूर्खतापूर्ण पूर्वधारणाओं का सहारा लिया कि यूरोप में कम से कम भौतिक क्षेत्र में जो भी किया जाता है उसे पूरे कौशल से किया जाता है। इसी वजह से मैंने सिरदर्द भी मोल ले लिया। इसलिये मैं समझता हूँ कि हमें अपने निर्णयों पर भरोसा करना सीखना चाहिये। अगर किसी चीज़ से बदबू आ रही है तो हमें यह मान लेना चाहिये कि वास्तव में वह वस्तु बदबूदार है। यह कहना बेवकूफ़ी है कि यह वस्तु यूरोप की है इसलिये इसमें बदबू हो ही नहीं सकती। हम सोचने लगते हैं कि मेरी नाक में ही कहीं कोई ख़राबी है। यहीं हमारा मन लीला दिखाने लगता है। वस्तुत: यह मन ही है जो हमें जादूगरी दिखाता है क्योंकि इन्द्रियों ने तो वही देखा जो हमने पाया, दिमाग ने उसे अंकित कर लिया और आत्मा मस्तिष्क के माध्यम से इसे देख रही है जो इसे ग़लत बात बता रहा है।

यही कारण है कि राजयोग में हम मन के ऊपर कार्य करते हैं। इसे मन का योग कहा जाता है। पिछली रात मैं इसी पर मनन कर रहा था। सुबह मेरे पास फ्रांसीसी अभ्यासियों का एक समूह आया था। ये लोग ध्यान के तत्काल बाद वापस जाना चाहते थे। मैंने उनसे बातचीत की और विचारों का आदान-प्रदान भी किया। यह नियम भी है कि जब कभी कोई वस्तु हम किसी को देते हैं तो बदले में उससे कहीं ज़्यादा हमें मिलता भी है। अन्यथा हम किसी को कोई चीज़ देंगे ही क्यों? लेकिन इस छोटी बात में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब हम कोई चीज़ किसी दुकान से खरीदते हैं तो बदले में उसे पैसा देते हैं और यह सामान पैसे के मूल्य से कम ही होता है। हाँ, व्यक्तिगत मूल्यांकन के आधार पर इस धारणा में थोड़ा-बहुत अंतर तो होता ही है। लेकिन हर प्रकार के लेन-देन का यह मौलिक सिद्धान्त है कि अगर हमें कुछ देने के बदले में उससे अधिक न मिले तो हम सौदा ही नहीं

करेंगे। इस पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि यहाँ कुछ विरोधाभास है। हम चाहते हैं कि जहाँ हम कम देकर अधिक पाना चाहते हैं वहीं जिसमें हमें पाना है वह भी ज़्यादा लेकर कम देना चाहता है।

फिर भी इतना तो तय ही है कि अगर हमें कुछ पाना है तो कुछ देना भी होगा। नियम है : दो और पाओ। यह संभव नहीं है कि पाकर हम किसी को कुछ दें। इसलिये जब हम स्वयं को देते हैं तभी स्वयं से बेहतर कुछ पाने की आशा रख सकते हैं। अगर हम अपने में से कुछ हिस्सा किसी को देते हैं तो उससे ज़्यादा कुछ हिस्सा पाने की आशा रख सकते हैं। भारत में हम लोग इस प्रकार के लेन-देन को वैश्यावृत्ति समझते हैं। हम अपना कार्य बेचकर पैसा कमाते हैं और कभी भी संतोष प्राप्त नहीं कर पाते। चाहे हम जितना वेतन प्राप्त करने लगें, धंधे में चाहे हमारी जितनी प्रगति हो जाये, जब तक हम किसी को कुछ दें नहीं और बदले में कुछ प्राप्त न कर लें, हम संतुष्टि नहीं प्राप्त कर सकते। यही कारण है कि हम अपने वेतन से कभी खुश नहीं रह पाते। मान्यता की आकांक्षा रखते हैं, अनुमोदन की आकांक्षा रखते हैं, चाहते हैं कि कोई हमसे कहे : शाबास! अच्छा काम किया। अकसर यह शाबासी उस काम के बदले में प्राप्त धन से कहीं ज़्यादा महत्त्व की होती है। अच्छे अधिकारियों को यह *ट्रिक* जानना चाहिये। पीठ पर प्रशंसा की एक थपकी लाखों रूपयों से अधिक कीमती होती है।

इसलिये मेरी राय में मानवीय व्यवहार में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम किसी को कुछ देने के बजाय सहानुभूति दें, शाबासी दें, प्रेम दें और जब ये चीज़ें हम पूर्णता के साथ देते हैं, हमें ये चीजें उससे कहीं अधिक प्राप्त होती हैं। यही समर्पण का दर्शन है। बाकी सब तो वैसे है जैसे अमेरिका में *गैरेज सेल* होता है। इसमें घर की फ़ालतू चीज़ों को इकट्ठा करके उसकी नीलामी कर दी जाती है।

इसीलिये जब हम अपने हिस्सों का क्रय-विक्रय करते हैं – अपनी बुद्धि, शरीर, यौन संबंध, सुंदरता किसी को देते हैं, इसमें हमारा ओछापन दिखता है क्योंकि जो कुछ भी हम देते हैं हमेशा उससे कम पाते हैं। हम ख़ुद को बुद्धू, संतापग्रस्त, सस्ता, गंदा और अपवंचित अनुभव करते हैं।

लेकिन जब हम ख़ुद को ही दे डालते हैं, तब हमें जो मिलता है, वह दिये हुये की अपेक्षा कहीं बहुत अधिक होता है। यह स्थिति हमारे लिये परम आनन्द की होती है। इसलिये देने का जो सिद्धान्त है, वह कहता है कि अगर देना है तो पूरा दो अन्यथा मत दो।

इससे हमें समझना चाहिये कि समर्पण ऐसी चीज़ है जो केवल एक ही बार की जा सकती है। अगर हमने एक बार समर्पण कर दिया तो फिर बचा ही क्या, जिसका दुबारा समर्पण कर सकें। अब यह कहना कि : नहीं, नहीं, मैंने साईं बाबा को समर्पण कर दिया है, किन्तु अब आपको समर्पण कर रहा हूँ। ऐसा संभव नहीं है। प्रेम, पूर्ण समर्पण माँगता है और इस समर्पण के बाद हमारे पास कुछ नहीं बचता। विवाह के पीछे भी यही दर्शन है। नैतिकता का भी यही दर्शन है : किसी को कुछ दिया जाता है, बेचा नहीं जाता। वस्तुत: नैतिकता कोई ऐसी चीज़ नहीं होती जो हमारी स्वतंत्रता, हमारे आनन्द या मौज-मस्ती को रोकने के लिये लागू की जाती हो। यह तो एक विधान है कि जब तक हम स्वयं को बेच रहे हैं, अपने आप को सस्ता बेचेंगें। बदले में हमें ऐसी वस्तु कभी नहीं मिल सकती जो हमारे द्वारा दी गयी वस्तु से बेहतर हो, क्योंकि हमने ख़ुद को हिस्से-हिस्से में करके बेचा है। इसीलिये एवज में हमें केवल पैसा मिलता है। अब नैतिकता को ही अगर हम ले लें तो नैतिकता को केवल यौन-संबंधों तक या सच बोलने तक या इसी तरह की सतही बातों में सीमित नहीं किया जा सकता। यह तो हमारे अस्तित्व का एक मूलभूत सिद्धान्त है कि जिस वस्तु को मैं पूरी तरह से किसी को नहीं दे सकता, उसे हमें देना ही नहीं चाहिये। चूँकि एक बार दे देने पर उसे हम वापस नहीं ले सकते। जो चीज़ एक बार खो गयी वह फिर वापस नहीं पायी जा सकती।

यह वैसे ही है जैसे किसी कम्प्यूटर से याददाश्त मिट जाये या उसे मिटा दिया जाये। बटन दबाया और स्मृति भंडार मिटा। कम्प्यूटर हमसे पूछता है : बाद में आप इसे फिर से प्राप्त करना चाहते हैं या इसे हमेशा के लिये मिटा देना है। अगर आप कहते हैं कि नहीं, हमें इसे हमेशा के

लिये मिटा देना है तो फिर यह कम्प्यूटर की स्मृति-पटल से हमेशा के लिये लुप्त हो जाता है। मैंने कम्प्यूटर का उपयोग करके बहुत कुछ सीखा है। ऐसा नहीं कि कोई तथ्य या जानकारी मैंने इससे प्राप्त की है लेकिन हाँ, एक कार्यप्रणाली मैंने ज़रूर विकसित की है। मेरी राय में, मन कम्प्यूटर के 'मॉनिटर' की तरह है। यह कोई काम नहीं करता, कुछ नहीं सोचता, लेकिन सब कुछ दर्शाता है। कार्य करने वाला भाग जिसे 'प्रोसेसर' कहते हैं, कहीं और रहता है – *हार्डवेयर* में। कम्प्यूटर का *की-बोर्ड* इन्द्रिय-प्रणाली की भाँति होता है जिसके माध्यम से कम्प्यूटर में सूचना भरी जाती है। जो व्यक्ति कम्प्यूटर चलाता है वह आत्मा की भाँति है। इस तरह अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि हमारी आत्मा बहुत कुछ कम्प्यूटर की भाँति हमारे शरीर, इन्द्रियों और मस्तिष्क का उपयोग कर रही है। ये मेरे *कम्प्यूटर हार्डवेयर* हैं और कम्प्यूटर को उसकी कार्य-प्रणालियों से जोड़ने वाला विद्युत परिपथ जो इन वस्तुओं से काम लेने में हमारी आत्मा को सक्षम बनाता है और इनके कार्यों के परिणाम को देखता है – वह है मेरा मन।

इसीलिये पूर्वी देशों में हम लोग मन और बुद्धि, दोनों को दो अलग-अलग चीज़ मानते हैं। मस्तिष्क अखण्डित रह सकता है लेकिन अगर मैं ही चेतनाशून्य हो जाऊँ तो क्या होगा? वैसे ही होगा जैसे मैं, बिना मन के हो जाऊँ। कम्प्यूटर, बिना *मॉनिटर* के काम नहीं कर सकता चाहे वह 486 हो या आने वाले समय में 686 आ जाये। इस तरह हम पाते हैं कि मन अति महत्त्वपूर्ण वस्तु है। हालाँकि वास्तविकता में देखा जाये तो मन का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि हमारे शरीर में इस तरह का कोई अंग है ही नहीं। शरीर में कहीं भी इसकी स्थिति निश्चित नहीं की जा सकती। हम यह नहीं कह सकते कि मन, शरीर में यहाँ पर स्थित है। किसी व्यक्ति का मस्तिष्क अगर अपनी जगह पर हो किन्तु यह त्रुटिपूर्ण कार्य करता हो तो हम कहते हैं कि उसके पास मस्तिष्क है ही नहीं। अगर किसी की स्मृति लुप्त हो जाती है तो भी हम कहते हैं कि उसके पास मस्तिष्क नहीं है या उसका दिमाग काम नहीं करता। इसीलिये हम मस्तिष्क पर काम नहीं करते। यह तो केवल एक उपकरण है – *इन्टिग्रेटेड चिप्स* या इसे हम जो भी कहें,

जो हमारे कार्यक्रमों को सुव्यवस्थित करता है। अब अगर हमारा मन इन कार्यक्रमों का भावार्थ ग़लत लगाता है तो हमें अपने सूचना-कोष से ग़लत सूचनायें प्राप्त होती हैं। इसीलिये जब हम नशीली दवाओं का सेवन करते हैं और इससे हमारी चेतना प्रभावित होती हैं तो हमें विकृत सूचनायें मिलने लगती हैं। सूचना तो सही-सही रहती है, लेकिन उसका भावार्थ दोषपूर्ण हो जाता है। इसीलिये हम कहते हैं कि नशीली दवायें हानिकारक हैं। हमें हर उस वस्तु से ख़तरा है जो हमारी सूचना को दूषित करती है।

जो सामान्य चेतना हमें मानव होने के नाते मिली हैं, उससे ही हम इस दुनिया के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और उस चेतना के माध्यम से अपने विकास का रास्ता खोजकर उस पर आगे बढ़ सकते हैं। हक्सले जैसे महान व्यक्तियों के उद्धरण को उद्धत करना तो ठीक है, किन्तु यह कहना कि चेतना की परिवर्तित अवस्थायें हमें असलियत की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का दर्शन कराती हैं, ठीक नहीं है। असलियत तो एक ही है और विकृत चेतना के कारण वह भी विकृत दिखने लगती है। मैं चेतना की परिवर्तित अवस्थाओं में विश्वास नहीं करता। मेरी राय में तो चेतना की परिवर्तित अवस्था असलियत को विकृत करती है। झूठ क्या है - सत्य का विकृत स्वरूप। सत्य बदलता थोड़े ही है। इसीलिये हम कहते हैं कि सत्य शाश्वत होता है, यह कभी बदलता नहीं है। इसी तरह असलियत भी शाश्वत है।

अगर हमारी नैसर्गिक चेतना अपने मूल रूप में ही रहे तो यह एक ऐसा माध्यम हो जाती है जिसके द्वारा हम इस संसार का उपयोग करते हुये स्वयं पर भी कार्य कर सकते हैं। इस अर्थ में अगर हम इस बारे में सोचें तो हम पायेंगे कि यह संसार हमारे मनोरंजन के लिये नहीं है बल्कि शिक्षण के लिये है। यह संसार कुछ ऐसी वस्तु है जिसका उपयोग हम स्वयं की उन्नति एवं विकास के लिये करते हैं। इसी तरह कम्प्यूटर भी हमारे मनोरंजन के लिये नहीं है। नि:संदेह मैं भी कभी इसमें खेलता हूँ लेकिन केवल अपने आप को तनावमुक्त करने के लिये या फिर इसकी मनोहारी संभावनाओं पर आश्चर्य करने के लिये। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। कोई खेल कभी

वास्तविकता नहीं हो सकता। खेल से हम केवल तनावमुक्त हो सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि तनाव से मुक्त होना क्यों ज़रूरी है? क्योंकि तनाव में हम असलियत का विकृत रूप देखने लगते हैं। उदाहरण के तौर पर जब हम क्रोध में होते हैं तो असलियत जिस रूप में हमें दिखायी देती है वह शांत अवस्था में हमारे द्वारा देखी गयी असलियत से बिलकुल भिन्न किस्म की होती है। उद्विग्न अवस्था में हम ऐसी वस्तुयें देखने लगते हैं जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। भयभीत अवस्था में हम गली में पड़ी रस्सी को भी साँप समझने की भूल कर बैठते हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि आध्यात्मिकता में भावकुता का कोई स्थान नहीं है। भावावेग असलियत को विकृत कर देते हैं। जब हम भावनाओं में बह रहे होते हैं और कोई सुंदर मुखड़ा देखते हैं तो हम कुछ ऐसा कर बैठते हैं जो हमें कभी नहीं करना चाहिये, जो हम अपनी सामान्य अवस्था में कभी नहीं करते। बाद में अपनी सामान्य अवस्था में लौटने पर हम पाते हैं कि यह विकृति थी। अब इस विकृति का कारण कौन है? सुंदर मुखड़े पर इल्ज़ाम लगाने का तो कोई मतलब है नहीं। स्पष्ट है कि मेरी भावना ने सुंदर मुखड़े को देखने की मेरी दृष्टि को विकृत कर दिया।

इसीलिये आध्यात्मिकता कहती है कि इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे हम अपनी उन्नति के लिये या अपने अधोपतन के लिये जिम्मेदार ठहरा सकें। मेरे कर्मों के जमा-खर्च के लिये मेरे अतिरिक्त बाहर की कोई वस्तु जिम्मेदार नहीं है। मैं स्वयं ही ख़ुद की अवस्थाओं के लिये जिम्मेदार हूँ। इसलिये हमारी उन्नति या हमारे पतन का श्रेय हमीं को है। अगर मैं अपनी चेतना को असली मूल अवस्था में रखने में क़ामयाब हो सकूँ तो बाहर की कोई भी चीज़ मुझे प्रभावित नहीं कर पायेगी। अगर मैं अपने *हार्डवेयर* (इन्द्रियाँ, मन, मस्तिष्क) का समुचित उपयोग करूँ तो जो आँकड़े इकट्ठे हैं उन्हें निर्दोष, सम्यक और समुचित रूप से उपयोग करने की क्षमता मुझे प्राप्त हो जाती है। इस यंत्र-प्रणाली के बिना हमेशा इस बात का ख़तरा है कि हम भटक जायें। भटकने का अर्थ यह है कि इस

अवस्था में हम न तो सत्य जान पायेंगे न असत्य। हम यह भी नहीं जान पायेंगे कि क्या ग़लत है और क्या सही।

भटक जाने पर हमें यह पता नहीं होता कि हम कहाँ हैं और हम अपने गंतव्य पर कैसे पहुँचेंगे। शायद कोशिश करके हम सड़क का नाम पढ़ लें लेकिन इससे हमारा मतलब सिद्ध नहीं होता। इस तरह हम पाते हैं कि भटकाव की स्थिति में जो सूचनायें हमें मिलती हैं वे भी हमारे किसी काम की नहीं होती। ज्ञान एवं तथ्यों की उपयोगिता नहीं रह जाती। हाँ, सौभाग्य से अगर हमें उसका टेलीफोन नम्बर याद आ जाता है तो हम कहीं से टेलीफोन करके उससे पूछते हैं कि भगवान के लिये कृपया यह बताओ कि तुम्हारे घर तक कैसे पहुँचे। फिर वह पूछता है कि पहले तुम यह तो बताओ कि तुम हो कहाँ? जब तक मुझे तुम्हारी स्थिति का पता नहीं चलता, मैं तुम्हें यह कैसे बता सकता हूँ कि तुम मुझ तक कैसे पहुँच सकते हो। अगर तुम मेरी दाहिनी ओर हो तो तुम्हें बायीं ओर चलना होगा और अगर तुम मेरी बायीं ओर हो तो तुम्हें दाँयी ओर चलना होगा। अगर तुम मेरे सामने हो तो तुम्हें मेरी ओर वापस आना होगा। इस प्रकार हम पाते हैं कि अपने लक्ष्य के निर्धारण के लिये भी यह आवश्यक है कि हम कम से कम यह जान लें कि हम कहाँ हैं। यह जान जाने के बाद आगे के लिये हमें दिशा-निर्देश की ज़रूरत पड़ती है। तीन मोड़ बाद दाहिनी ओर मुड़ना, फिर बाँयी ओर, फिर बाँयी और का पाँचवाँ मकान - बस, इतनी ही सरल बात। लेकिन इसे हम तभी समझ सकते हैं जब हमें अपनी अवस्था का बोध हो कि हम कहाँ हैं।

इसलिये जब हम गुरु के पास पहली बार जायें तो हमें इसी धारणा के साथ जाना चाहिये कि मैं भटक गया हूँ। कभी-कभी तो हम यह भी नहीं जानते कि हम कौन हैं। बाबूजी के पास मैंने ऐसे लोगों को देखा है जो नशीली दवाओ के प्रभाव में धुत्त होकर आते थे और उन्हें इस बात का बिलकुल भी भान नहीं रहता था कि वे कौन हैं। उन्हें यह भी पता नहीं होता था कि वे डेनमार्क के रहने वाले हें या स्वीडन के। उनके वहाँ आने पर मालिक उनके लिये ज़रूरी सूचना उनसे निकालते थे। यह सूचना

निकालना केवल तभी संभव है जब आप मालिक के सामने हों। कम से कम पहली बार तो आपको उनके सामने व्यक्तिगत रूप से जाना ही चाहिये। आध्यात्मिकता में यह ज़रूरी है कि आपका परिचय आपके गुरु से आमने-सामने, व्यक्तिगत रूप से हो। अन्यथा उन्हें यह पता नहीं होता कि उनके पास कौन आया है, और हमें यह पता नहीं होता कि हम अपने आप को किसके हाथों में सौंप रहे हैं। हम यह भी नहीं जानते कि अगर हमें कुछ देना है तो हमें क्या, कितना और क्यों देना है।

इसलिये जब तक हम इस मूलभूत नियम को नहीं समझ लेते कि हम बिना कुछ दिये कुछ भी प्राप्त नहीं कह सकते और यह भी कि अपने को पूर्ण रूप से देकर ही हम पूर्ण की प्राप्ति कर सकते हैं। अब अगर मैंने अपने आप को पूरा दे दिया तो मेरे पास अब देने को बचा ही क्या? इसलिये अगर मैं इस भुलावे में हूँ कि मैंने अपने आप को किसी को दे दिया है और मैं अपना अंश किसी और को देना भी जारी रखता हूँ – चाहे यह शारीरिक रूप में हो या किसी अन्य रूप में, तो इसका सीधा मतलब यही है कि मैंने किसी को कुछ नहीं दिया है। यह तो अपवंचन है। जब मैंने अपने आप को दे दिया तो मेरा क्या रहा जिसे मैं औरों को भी दे रहा हूँ। इसमें हमें आत्मग्लानि भी होती है, हम शर्मिन्दगी भी महसूस करते हैं। यह तो वैसे ही है जैसे मैंने किसी दुकानदार को पैसा देकर उससे कोई वस्तु खरीदी और जैसे ही दुकानदार ने अपना मुँह दूसरी तरफ फेरा, मैंने पैसा उसकी गुल्लक से निकालकर अपनी जेब में डाल लिया। इस कार्य के लिये मुझे जेल की सजा भी हो सकती है। यह ग़ैर कानूनी है।

जब मैंने कोई वस्तु एक बार किसी को दे दी तो फिर उसी वस्तु को किसी और को देने का मेरा अधिकार समाप्त हो जाता है। चूँकि देने के बदले में मुझे कुछ वापस भी मिल चुका होता है जिसे मैं नहीं लौटा सकता। जब मैं प्रेम करता हूँ, मुझे प्रेम मिलता है। अब प्रेम किसी को हम कैसे वापस लौटा सकते हैं। पैसा लौटाया जा सकता है, वस्तुओं को लौटाया जा सकता है लेकिन बीता हुआ जीवन या अपना अतीत कैसे लौटाया जा सकता है। अगर मैं मरणासन्न होऊँ और कोई मुझे दवा देकर ठीक कर दे

तो मैं अपनी कृतज्ञता के अतिरिक्त उसे और क्या दे सकता हूँ? क्या मैं उससे कह सकता हूँ कि तुम अपने द्वारा दी गयी ज़िन्दगी को मुझसे वापस ले लो? कुछ ऐसे ऋण होते हैं जिनकी कीमत देकर उनसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। प्रेम का ऋण नहीं चुकाया जा सकता।

जब हम किसी को प्रेम देते हैं और बदले में असाधारण आनन्द की कोई वस्तु पा जाते हैं तो फिर हम उसे वापस क्या दे सकते हैं? तब केवल हम ऐसी वस्तु दे सकते हैं जो हमसे भी बढ़कर हो। हाँ, अपने आप को दे देने के बाद भी प्रेम करना संभव है जबकि प्रेम करने के लिये आप वहाँ होते भी नहीं। यह एक रहस्य है। कई अभ्यासी मुझे बताते हैं कि उन्हें लगता है कि उनका प्रेम बढ़ रहा है, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि जब मैं वहाँ हूँ ही नहीं, तो यह प्रेम बढ़ने की बात कैसे की जाती है? प्रेम तो ऐसी चीज़ नहीं है जिसे दिया जा सके। वस्तुयें दी जा सकती हैं, तथ्य दिये जा सकते हैं, लेकिन प्रेम नहीं। हाँ, यह ज़रूर है कि स्वयं को दे देने के बाद मेरा प्रेम देश, काल और स्थान से परे होकर निरंतर बढ़ता रहता है। ठीक वैसे ही जैसे आप कोई वृक्ष लगाकर मालिक को दे दें और वे उसकी समाप्ति के बाद भी उसका फल प्राप्त करते रहते हैं।

यही प्रेम का रहस्य है। आध्यात्मिकता में हम इसी प्रेम की बात करते हैं। यह ऐसा प्रेम है जिसे एक बार देने के बाद हम फिर से किसी को नहीं दे सकते। यह कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसके टुकड़े-टुकड़े करके हम बाँट सकें। दिल, या तो दे दिया जाता है या नहीं दिया जाता है। इसे सैंकड़ों टुकड़ों में बाँटकर सैंकड़ों लोगों में वितरित नहीं किया जा सकता। किसी एक को भी इसे टुकड़ों में बाँटकर नहीं दिया जा सकता। हम नैतिकता का चोला पहनकर यह कहें कि मैंने तो स्वयं को टुकडे-टुक़डे करके एक ही व्यक्ति को दे दिया है। दिल तो एक बार में ही पूरा दे दिया जाता है या फिर कतई नहीं दिया जाता।

प्रेम और भक्ति की बातें हम लोग हमेशा करते हैं। इस संबंध में मैं एक बात बता दूँ कि भक्ति का मतलब केवल इतना होता है कि हम अपने कर्त्तव्य का पालन निर्दोष रूप से करें। लेकिन हम हमेशा प्रेम और भक्ति

में उलझ जाते हैं। बाबूजी बहुत ही स्पष्ट रूप से कहते थे कि प्रेम और भक्ति, ये दोनों, दो अलग-अलग चीज़ें हैं। ऐसा नहीं है कि ये दोनों एक ही चीज़ हैं।

मैंने अब तक आपको यह समझाया कि प्रेम क्या है, यह कैसे बढ़ता है, इसे कैसे देना चाहिये? मैंने यह भी बताया कि प्रेम ऐसी चीज़ है जिसे एक बार में पूरा का पूरा देना पड़ता है, इसे टुकड़ों में बाँटकर या कई बार में नहीं दिया जा सकता। यह ऐसी चीज़ है जिसे पूरा का पूरा दे देने के बाद भी यह विद्यमान रहता है, भले ही हम वहाँ न हों। इसीलिये जब हम पूर्णता के साथ प्रेम करते हैं तो प्रियतम के दिवंगत हो जाने पर भी प्रेम बना रहता है और यह निरंतर उसकी ओर प्रवाहित भी होता रहता है। उसके दिवंगत हो जाने पर उसकी जगह किसी और को नहीं ला सकते। यही सच्ची नैतिकता है।

भक्ति क्या है - कर्त्तव्य का निर्दोष पालन। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि कर्त्तव्य में पूर्णता ही भक्ति है। अब अगर मैं कहता हूँ कि मैं मालिक का भक्त हूँ, तो मेरा कर्त्तव्य है कि उन्होंने मेरे लिये जो कर्त्तव्य निर्धारित किया है या जिसे मैंने स्वेच्छा से अपने ऊपर ले लिया है, उसका निर्दोषिता के साथ पालन करूँ। जितना संभव हो सके उतना मैं अपने कर्त्तव्य-पालन में और कुशल होता जाऊँ। लोग कह सकते हैं कि कोई वस्तु पूर्णत्व के आगे कैसे बढ़ सकती है? सभी किसान बीजों का परिशोधन करके उसका रोपण करते हैं। बीज का रोपण करने के लिये भूमि का भी परिशोधन करते हैं। फिर उसमें दोषों से रहित पौधा उगता है, वृक्ष तैयार होता है, फिर उसमें दोषरहित फल लगने की संभावना बनती है। इसे हम निरंतर वर्द्धमान दोषरहितता कह सकते हैं। यह परिवर्तनशील दोषरहितता है, फिर भी अपरिवर्तनीय है। वस्तु बदल रही है लेकिन उसकी दोषरहितता अपरिवर्तनीय है। इसीलिये हमारे पास कोई भी ऐसी वस्तु हो सकती है जो दोषों से रहित हो, चाहे वह दोषरहित कोयले का टुकड़ा हो या दोषरहित हीरा। दर्शन कहता है कि कोई भी वस्तु दोषपूर्ण नहीं होती क्योंकि सृष्टि-निर्माता ने कोई भी चीज़ ऐसी नहीं बनायी जिसमें कोई दोष हो।

इसलिये हमें यह समझना चाहिये कि जब हम सृष्टि पर आरोप लगाते हैं और कहते हैं कि यह दोषों से भरी हुई है, इसका कोई प्रयोजन नहीं है, यह बेकार है, तो हम सृष्टि की नहीं बल्कि इसके रचनाकार की आलोचना कर रहे होते हैं। कोई भी माँ अपने बच्चो की आलोचना बर्दाश्त नहीं करती। आपको भरोसा न हो तो आप किसी माँ से उसके बच्चे के बारे में यह कहकर देखिये कि उसका बच्चा मूर्ख है या कुरूप है। वह शेरनी से भी ज्यादा ख़तरनाक होगी। मैंने कई बार केवल मज़ाक के तौर पर प्रतिक्रिया जानने के लिये बच्चों की आलोचना करके देखी। हमेशा एक जैसी प्रतिक्रिया देखने को मिली : मेरे बच्चे के बारे में उलटी-सीधी बकने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई? तमिल में एक कहावत है कि कौवे को भी अपना बच्चा स्वर्ण से मंडित दिखता है। प्रत्येक माँ का बच्चा उसकी निर्दोष कृति है।

अगर इसे सच मान लिया जाये कि हर माँ का बच्चा निर्दोष कृति है तो फिर दुनिया में कोई व्यक्ति बुरा कैसे हो सकता है? अगर आप स्वयं को दोषपूर्ण मानते हैं तो इसका मतलब यह है कि आप अपने सृष्टिकर्त्ता की आलोचना कर रहे हैं। 'मैं' कभी दोषयुक्त नहीं हो सकता। हाँ, मेरे विचार और कर्म दूषित हो सकते हैं। मेरा लेना और देना दोषपूर्ण हो सकता है लेकिन 'मैं' की रचना तो ईश्वर ने की है। मैं कैसे दोषपूर्ण हो सकता हूँ। वह कभी भी दोषयुक्त वस्तुओं की रचना कैसे कर सकता है?

इसीलिये जब हम सफाई करते हैं, इन दोषों को मिटाने की कोशिश करते हैं। सहज मार्ग कहता है कि तुम अस्तित्व के द्वैतभाव से छुटकारा नहीं पा सकते। इसलिये जब हम दोषों को मिटा रहे होते हैं, निर्दोषिता को भी मिटा रहे होते हैं। हम केवल किसी एक चीज़ को नहीं रख सकते। या तो दोनों को रखना पड़ता है या फिर दोनों को मिटाना होता है। इसीलिये जब हम अपने अंदर से वह सब कुछ निकाल देते हैं, जिसका निर्माण हमने किया है तो फिर वही बचता है जिसकी रचना ईश्वर ने की है, जो

निर्दोष है। इसीलिये सहज मार्ग में न तो कुछ अच्छा है और न ही कुछ बुरा है। यहाँ केवल पूर्णता का विचार है।

अब पूर्णत्व, न तो अच्छा है न बुरा, न छोटा है न बड़ा, न स्वाद न बेस्वाद, क्योंकि ये विरोधी द्वैतभाव हैं जो उस तत्त्व के दोनों किनारे हैं जिसे हम सर्वभूतों का माध्यम कहते हैं – यानी ईश्वर, जो न तो सदोष है न निर्दोष, न अच्छा है न बुरा, न सुंदर है न असुंदर, जिसमें न स्वाद है न जो बेस्वाद है। इसी को हम द्वैत पर विजय प्राप्त करना कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का मिलना कतई संभव नहीं है जो केवल अच्छा हो या केवल बुरा हो। वह किसी के लिये अच्छा हो सकता है लेकिन किसी के लिये बुरा भी होगा। वह किसी को सुंदर लग सकता है लेकिन किसी को असुंदर भी लग सकता है। कोई गोरियों को पसंद करता है तो कोई सांवलियों को, कोई लम्बी को पसंद करता है तो कोई छोटी को। लेकिन ये पैमाने किसके द्वारा बनाये गये हैं – हमारे द्वारा। ये सभी सापेक्ष मूल्यांकन के पैमाने है।

एक बार मुझे जापानी *रेस्टराँ* में ले जाया गया। मुझे ले जाने वाले मेरे मित्र ने बताया कि यह विशुद्ध जापानी *रेस्टराँ* है। वहाँ सभी लोग मछलियों की गंध से भरी हुई किसी सामुद्रिक वनस्पति के विभिन्न व्यंजनों का रसास्वादन कर रहे थे। मुझे उल्टी आ रही थी, और यह सुनकर तो मुझे और भी उबकाई आने लगी कि इसी रात्रिभोज के लिये उन्होंने 1000 डॉलर व्यय किये हैं। 1000 डॉलर! अब देखिये, क्या अच्छा है – इसके बारे में लोगों की भिन्न धारणायें हैं। बेचारा आदमी तो यह सोच रहा है कि वह मुझे प्रसिद्ध जापानी *रेस्टराँ* में ले जाकर, जिसमें सुंदर कागजों से दीवारों को सुसज्जित किया गया है, गुड़ियों जैसी परिचारिकायें फुदक-फुदक कर उसी सामुद्रिक वनस्पति के भिन्न-भिन्न रंग, रूप और आकार के व्यंजन परोस रही हैं भले ही सारे व्यंजनों से दुर्गन्ध आ रही हो, मुझे खुशी प्रदान करने की कोशिश कर रहा है। अब यह देखने की बात है कि वहाँ उन लोगों को वह दुर्गन्ध मूल्यवान लग रही है। जो लोग कच्ची मछली खाते हैं उनके लिये इसकी गंध ही परम सुगंध है – चेनल, लेनोइन या ऐसी कोई सुगंधित चीज़ नहीं, केवल मछली। मैंने एक बार एक तमिल फिल्म देखी

थी जिसमें एक अच्छे घराने की लड़की किसी मछुआरे के प्रेम में पड़ जाती है और उससे विवाह कर लेती है। वे समुद्र किनारे एक झोपड़ी में रहते हैं। मछुआरा, लड़की के प्रेम के कारण सारी मछलियाँ झोपड़ी के बाहर फेंक देता है। लड़की देखती है कि उसका प्रेमी सो नहीं पा रहा है। करवटें बदल रहा है, लेकिन उसे नींद नहीं आ रही है। लड़की बहुत समझदार है। वह बाहर जाकर एक टोकरी में भरकर मछली लाती है और टोकरी को उसके खाट के नीचे रख देती है। वह आनन्दपूर्वक सो जाता है। इसी तरह हम सभी वस्तुओं के अभ्यस्त हो जाते हैं।

जबकि आध्यात्मिकता कहती है कि किसी चीज़ की आदत मत डालो। क्योंकि किसी तरह की कोई आदत बनाना एक तरह से अपने पैरों में बेड़ी डालने जैसा ही है। मैं कोपेनहेगेन में रहने की आदत डाल चुका हूँ। इसका सीधा मतलब है कि मैं इस स्थान का अभ्यस्त हो गया हूँ। आध्यात्मिकता में हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम स्थानों, व्यक्तियों या वस्तुओं के अभ्यस्त न हों। इन चीज़ों से मैं प्रेम तो कर सकता हूँ, लेकिन अगर मैं इन चीज़ों का अभ्यस्त हो जाऊँ तो बिना दिल में दर्द उठे मैं कोपेनहेगेन को छोड़कर कैसे कहीं जा सकता हूँ।

दरअसल में, आध्यात्मिकता में देशभक्ति, राष्ट्रीयता, राष्ट्रवादिता जैसी बातों के लिये कोई स्थान नहीं है। यहाँ तो धर्म के लिये भी कोई स्थान नहीं है, जहाँ एक साथ कई देवताओं की पूजा की जाती है। लोग कहते हैं कि अगर मैं क्राइस्ट की पूजा करता हूँ तो बुद्ध की पूजा कैसे कर सकता हूँ? मेरा मानना है कि अगर आप सचमुच क्राइस्ट की पूजा कर रहे होते तो इस तरह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि हम जिसकी पूजा करते हैं या उपासना करते हैं, वह तो सार तत्त्व है। अक़सर मेरे पास लोग आते हैं और कहते हैं कि : चारीजी! आपने कहा है कि हम दुबारा विवाह नहीं कर सकते, फिर हम गुरु कैसे बदल सकते हैं? इसलिये चूँकि यह सारतत्त्व कोई जीवन्त वस्तु नहीं है, इसका न तो कोई नाम है, न रूप है और न ही आकार। क्राइस्ट ईसा थे, क्राइस्ट नहीं थे। इस तथाकथित क्राइस्ट अवस्था को प्राप्त करने के लिये उन्होंने ध्यान का सहारा लिया। इस उपलब्धि को

प्राप्त करने के लिये उन्होंने यथेष्ट जीवनयापन किया, तब कहीं जाकर वे ईसामसीह कहलाये। क्राइस्ट भी सारतत्त्व है जैसे गौतम का बुद्धत्व। बुद्ध नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह सारतत्त्व है, प्राणी की तात्विक अवस्था है। उन्होंने तात्विक अवस्था प्राप्त की, इसीलिये वे बोधिसत्व कहलाये। ठीक वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति सिंहासनारूढ होकर राजमुकुट धारण कर ले तो राजा कहलाने लगता है, हालाँकि राजा नाम की कोई चीज़ तो होती नहीं है। राजा बनने के बाद भी वह ऐथलरेड तृतीय या ब्रोवेरो चतुर्थ या मूढ़ पंचम बना रहता है। सिंहासन से हटाकर जब उसको देश-निकाला दे दिया जाता है तब वह राजा नहीं रह जाता। इसलिये यह समझने की भूल मत कीजिये कि आप क्राइस्ट की पूजा करते हैं, क्राइस्ट एक व्यक्ति के रूप में पूज्यनीय नहीं हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यथार्थतः आप किसकी पूजा कर रहे हैं? स्पष्टतः शून्य की। वस्तुतः आप उस व्यक्ति जैसा बनना चाहते हैं जो क्राइस्ट था, ईसा नहीं। वह फिर क्राइस्ट के रूप में अवतरित हो सकता है ईसा के रूप में नहीं। बुद्ध गौतम के रूप में आये थे अब आगे गौतम के रूप में थोड़े आयेंगे। लेकिन जब भी आयेंगे, बुद्ध हो जायेंगे। हमारे यहाँ भी एक सिद्धान्त है - गुरु। बाबूजी महाराज एक व्यक्ति थे। जिन लोगों ने बाबूजी महाराज को जाना है, वे इस बात को आसानी से समझ सकते हैं, लेकिन जिन्हें बाबूजी महाराज के साथ रहने का मौका नहीं मिला है, जिन्होंने बाबूजी महाराज को ठीक से जाना और समझा नहीं है, उनसे बाबूजी महाराज के बारे में कोई बात करना व्यर्थ है। ठीक उसी तरह जैसे जिन्होंने क्राइस्ट के बारे में कुछ नहीं जाना, उनसे क्राइस्ट की बात करना व्यर्थ है।

व्यक्ति की पहचान तो उसकी आध्यात्मिक अवस्था से होती है। कोई यह कहे कि वह सुख से प्रेम करता है। भला कोई सुख से कैसे प्रेम कर सकता है? हाँ, लोग सुखी ज़रूर हो सकते हैं लेकिन वे सुख से प्रेम नहीं कर सकते। आप जानते हैं, जब मैंने विवाह किया था मेरी बीवी खुश थी लेकिन आज, आज वह केवल ताने मारती रहती है, चिड़चिड़ाती

रहती है। वस्तुत: जीवात्मा की अवस्थायें बदलती रहती हैं। केवल उसकी आध्यात्मिक अवस्था ही ऐसी है जो अपरिवर्तनीय है। अब अगर किसी के पति ने यह अपरिवर्तनीय अवस्था प्राप्त कर ली तो वह पति नहीं रह जाता। हाँ, महिलायें ज़रूर कहेंगी कि उन्होंने अपना पति खो दिया, लेकिन वह विद्यमान है।

इस पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि हम कई प्रकार के भ्रांतिपूर्ण विचारों में फँसे हुये हैं। भक्ति का सम्यक् अर्थ क्या है, हम ठीक से नहीं समझ पाये हैं। क्या हमने जो कर्त्तव्य अपने लिये निर्धारित किये हैं, उनका निर्वाह मैं सर्वोत्तम तरीके से कर रहा हूँ? अगर हम ऐसा कर रहे हैं, तभी हम भक्त कहलाने योग्य हैं। क्या मैं जिससे प्रेम करता हूँ, उसको मैंने अपना संपूर्ण दे दिया है? अगर ऐसा है, तभी हम यह कहने के अधिकारी हैं कि हम उससे प्रेम करते हैं। अगर हमने उसे केवल अपने कुछ अंश दिये हैं - मेरे विचार, मेरा शरीर, मेरा मन, तो फिर क्या? मैं इसके लिये पुन:, न चाहते हुये भी इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ - वेश्यावृत्ति। मान लीजिये कि कोई दुकानदार आपको हीरों का हार दिखाये, और जब आप उसका मूल्य अदा करके उसे ले जाने लगें, तो वह हार में से एक हीरा तोड़कर आपको थमा दे और कहे कि सारे हीरे तो एक से ही हैं - 27 कैरेट के। आप 27 हीरे लेकर क्या करेंगे? इनकी सुरक्षा बड़ी कठिन है। आप एक हीरा ले जाइये। इसमें भी वही सब दिखेगा जो 27 हीरों में दिखेगा। तो आप इसको क्या कहेंगे? निश्चित रूप से बेईमानी।

जब भी हम कोई कार्य आंशिक रूप से करते हैं और उसको पूर्ण रूप से करने का दावा करते हैं तो यह बेईमानी होती है। इसे धोखाधड़ी कहा जा सकता है। जहाँ काम करने वाला और जिसके प्रति काम किया जा रहा है, दोनों ठगे जाते हैं। वस्तुत: किसी भी जीवात्मा में भक्ति और प्रेम, दोनों चीज़ें इकट्ठी होनी चाहिये। समुचित रूप से देखा जाये तो समर्पण का अर्थ है - एक बार में ही पूरा दे देना। इसके बाद न तो हमारे पास समर्पण के लिये कोई और चीज़ बचती है और न ही दुबारा किसी प्रकार के समर्पण की चर्चा संभव है। एक ही आदमी बार-बार समर्पण कैसे कर सकता है?

अब आप कहें कि बाबूजी! हर साल जनवरी माह की पहली तारीख को आपके समक्ष समर्पण करता हूँ - यह कितनी हास्यास्पद बात है। वे कैसे कह सकते हैं कि ठीक है, करते रहो। नये साल की प्रतिज्ञा हम अपने आप को कुछ देने के लिये करते हैं। यह तो उसी तरह है जैसे हम प्रतिज्ञा करें कि कोपेनहेगेन में अगर मुझे कोई भिखारी मिला तो मैं उसे 100 रूपया दूँगा। मैं यह बात निश्चित रूप से जानता हूँ कि कोपेनहेगेन में मुझे कोई भिखारी नहीं मिलेगा और भारत में ऐसी प्रतिज्ञा करने का साहस मैं करूँगा नहीं।

मेरी राय है कि स्वयं से हमें कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये। हमें स्वयं को बेचने से बचना चाहिये। जब हम स्वयं को टुकड़े-टुकड़े करके बेचते हैं तो स्वाभाविक रूप से हमें इसके एवज में कम मिलता है। यह अनैतिक है। अनैतिकता कोई संकीर्ण चीज़ नहीं है। मैं यह इसलिये कह रहा हूँ क्योंकि पूरब के लोग नैतिकता को केवल काम-वासना तक ही सीमित करके देखते हैं। इसीलिये हमारे यहाँ ऐसे पवित्र व्यक्तियों की भरमार है जो पक्के ठग और बदमाश हैं, जो आपको हर तरफ से लूटने का प्रयास करते रहते हैं। लोगों को इसमें किसी प्रकार की अनैतिकता नहीं दिखती। उनकी सोच के अनुसार तो अनैतिकता का संबंध केवल काम-वासना से है इसके अतिरिक्त किसी कार्य से नहीं। मेरी राय में यह नैतिकता की ग़लत और भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या है। नैतिकता पर तो प्रश्न वहाँ भी है जहाँ आप ज़्यादा पैसा लेकर, कम पैसे का सामान देते हैं। मेरी राय है कि हम अपने दिल का उपयोग करके सम्यक् समझ विकसित करने का प्रयास करें। इसमें मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ। यह मेरी आंतरिक समझ है, मौलिक सोच है। आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की मेरी चाहत ने जिन परिस्थितियों को मेरे सामने ला खड़ा किया, उसी से मेरे अंदर यह समझ पैदा हुई। मैं आशा करता हूँ कि आप सब लोग भी अपने अंदर यह समझ विकसित करने में सफल होंगे।

धन्यवाद!

6
ईश्वर एक है

प्रिय मित्रों! मेरे लिये यह अत्यन्त खुशी की बात है कि मुझे आपके बीच आकर योग की अपनी सहज मार्ग पद्धति के बारे में कुछ कहने का अवसर मिला है। भारत में सड़क-मार्ग से यात्रा करते समय हम लोग अकसर आगे का रास्ता जानने के लिये बीच में रुक जाते हैं। मुझे पता नहीं आपमें से कितने लोग भारत गये हैं लेकिन वहाँ अकसर राजमार्गों पर कुछ अंकित नहीं रहता। उनका कोई क्रमांक नहीं होता। अकसर हमें लोगों से पूछना पड़ता है कि यह रास्ता कहाँ जायेगा। फिर बताने वाला अपने अनुभव के आधार पर बहुत ही गंभीरता से हमें बताता है कि कौन सा रास्ता हमें हमारे गंतव्य तक पहुँचाने के लिये सर्वोत्तम रहेगा। इन घटनाओं ने मेरे अंदर यह अंतर्दृष्टि पैदा की कि हम अकसर दूसरों के अनुभवों से अपना रास्ता तय करते हैं। हालाँकि यह निश्चित है कि हम हर आदमी के अनुभव को नहीं अपना सकते। आख़िर इस दुनिया में करोड़ों व्यक्ति हैं और करोड़ों रास्ते भी। फिर भी किसी तरह से हमें आत्मनिर्णय करके यह पता करना पड़ता है कि हमारी ज़रूरतें क्या हैं और अपनी इन ज़रूरतों को पूरा करने के लिये हम किस रास्ते का अनुसरण करें।

जब मैं पहली बार सन् 1968 में यूरोप आया, मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि अलग-अलग देशों में एक ही नदी के अलग-अलग नाम हैं। डेन्यूब नदी के कम से कम तीन नाम तो मुझे ही ज्ञात हैं।

नि:संदेह इस नदी के सही नाम का निर्धारण करने में अनेकों राजनैतिक समस्यायें होंगी। अगर आपने नदी का कोई नाम लिया तो एक देश के लोग ही इसे समझेंगे, दूसरे देश वाले शायद यह भी न समझ पायें कि यह कोई नदी है। लेकिन मैंने यह पाया कि एक वस्तु को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारने से अकसर उलझनें, मतभिन्नतायें, असहमति और कलह उत्पन्न होती है। अगर आप लोग मुझे इस मार्ग में हुये अपने अनुभवों के बारे में बोलने की अनुमति दें तो मैं स्वविकास के लिये जो कुछ भी कर सका हूँ या कर रहा हूँ, इसकी सत्यता से आप परिचित हो सकेंगे।

मेरे गुरुदेव हमेशा कहा करते थे कि योग की इस साधना पद्धति में केवल आपका अपना अनुभव ही प्रमाण है। अगर आप कोई साधना कर रहे हैं और आपको आपका लक्ष्य हासिल हो जाता है तो इसका मतलब तो यही है न, कि जो रास्ता आपने चुना था वह सर्वोत्तम था। मैंने जब साधना शुरू की, गुरुदेव को नहीं जानता था। केवल पुस्तकें ही मेरी मार्गदर्शक थीं। मेरी शिक्षा ईसाई मिशनरी द्वारा संचालित विद्यालय में हुई। अपने पूरे अध्ययनकाल में करीब 8-9 साल मैंने ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों का अनुकरण किया। वहाँ चर्च जाना अनिवार्य था, बाइबिल पढ़ना अनिवार्य था। यहाँ तक कि मैं सीनियर कैम्ब्रिज की परीक्षा में बैठ सकूँ, इसके लिये ज़रूरी था कि मैं सेन्ट मार्क के विचारों को भलीभाँति समझकर उनसे संबंधित प्रश्नों का जवाब लिखने में समर्थ हो सकूँ।

अगर मुझे गुप्त रहस्यों के बारे में जानने की कोई ललक नहीं होती तो मैं ईसाई धर्म के दया, करुणा और प्रेम के संदेशों से इतने गहरे स्तर तक प्रभावित था कि उसे ग्रहण करने की भी सोच सकता था। मेरा छोटा भाई तो करीब-करीब ईसाई धर्म को अंगीकार ही कर चुका था। पता नहीं क्या बात हो गयी कि धर्मान्तरण नहीं हो सका। आगे की पढ़ाई के लिये मैं कलकत्ता आ गया जहाँ श्री रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं ने मुझे बहुत प्रभावित किया। आशा है यहाँ उपस्थित लोगों में से कइयों ने उनका नाम सुना होगा। उनकी शिक्षाओं में ईसाई धर्म की तरह ही मुझे शिक्षा का एक बहुत बड़ा भंडार प्राप्त हुआ। दोनों में अंतर केवल भाषा और प्रयोग किये

गये शब्दों में था। दूसरी बात यह है कि दोनों ने ईश्वर को अलग-अलग तरीके से समझने की भूल की।

जब भी मेरे सामने कोई समस्या आती, मैं उस देश में स्थित श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम में जाकर ध्यान करता था। हालाँकि मैं उस समय अपने गुरुदेव के सानिध्य में नहीं आया था। यूरोप प्रवास के दौरान जब कभी मैं किसी उलझन में होता था, चर्च में जाकर ध्यान में बैठा करता था। मैं आपको बताना चाहता हूँ कि ध्यान की इस अवस्था में मुझे ईसामसीह और ईसाईयत, दोनों के बारे में कई प्रकार के रहस्यों का पता चला है। मैंने ध्यान में बुद्ध को भी देखा है। मैं चार लोगों : ईसामसीह, गौतम बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द से काफी प्रभावित हुआ। जब मैं अपने अतीत के बारे में सोचता हूँ तो देखता हूँ कि मेरा खिंचाव कई चीज़ों की ओर था। लेकिन ये सभी मुझे एक ही दिशा में ले जा रही थीं। बाहर से जो अंतर मुझे दिख रहा था, यह मेरे मन और मेरी अनुभूतियों का परिणाम था। हालाँकि उस सबमें तत्त्व तो एक ही था।

गौतम ने जब जीवन की कुछ सत्यताओं को देखकर अपना घर-परिवार छोड़ दिया था। इसके पहले वे अत्यंत संरक्षित जीवन जीया करते थे। वे राजकुमार थे, विवाहित थे, सुंदर पत्नी थी और प्यारा बच्चा था। उन्हें महल से बाहर निकलने की मनाही थी। लेकिन होनी को कब, कौन टाल सका है? एक दिन राजकुमार गौतम महल से बाहर निकले और उन्होंने देखा कि किसी आदमी की लाश को जलाने के लिये लोग उसे उठाये लिये जा रहे हैं। फिर उन्होंने किसी बूढ़े व्यक्ति को पीड़ा से कराहते हुये देखा। यह सब देखकर वे महल में वापस लौट आये। वे भीतर तक विचलित हो चुके थे। उन्होंने लोगों से पूछा कि जो कुछ उन्होंने देखा, वह क्या था? उन्हें उत्तर मिला - यही जीवन का सत्य था। व्यक्ति जन्म लेता है तो बूढ़ा तो उसे एक दिन होना ही है, रोगग्रस्त भी होना है और अंत में उसे मरना भी है। इसमें विचलित होने जैसी कोई बात नहीं है। गौतम ने कहा : नहीं, मुझे ऐसा जीवन नहीं चाहिये। मुझे तो ऐसा जीवन चाहिये जिसमें न तो मुझे जन्म लेना पड़े और न ही मेरी मृत्यु हो। न तो कभी

बुढ़ापा आये और न ही बीमारी हो। उन्होंने अपना महल, अपनी पत्नी, अपना बच्चा, सबको छोड़ दिया। जंगल चले गये, वहाँ ध्यान किया और बुद्धत्व को प्राप्त किया। यह कहना हमारी भूल है कि वे बुद्ध थे। उन्होंने बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त की। बुद्धत्व एक सिद्धान्त है। परम्परा कहती है कि इसके पहले भी कई एक बुद्ध हुये थे और गौतम उनमें से एक थे।

मैं भी गुरुदेव के चरणों में आकर ध्यान करने लगा। जब मैंने उनसे पूछा : आप किस धर्म को मानते हैं? चूँकि वे ऐसे क्षेत्र के निवासी थे जहाँ के हिन्दुओं का बाहरी पहनावा मुस्लिमों के पहनावे से मिलता था – उनका चित्र देख लीजिये। उन्होंने जवाब दिया : मैं हिन्दू धर्म में पैदा हुआ लेकिन अब मेरा कोई धर्म नहीं है। मैं अवाक् रह गया। मैंने मन में सोचा : आख़िर ये कैसे संत हैं, कैसे गुरु हैं जो कहते हैं कि मेरा कोई धर्म नहीं है? मैंने उनसे फिर कहा : आप हज़ारों आदमियों को ईश्वर की ओर प्रवृत्त कर रहे हैं, उन्हें ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता दिखा रहे हैं फिर यह कैसे संभव है कि आपका कोई धर्म न हो? उनका जवाब था : देखो! धर्म ईश्वर तक पहुँचाने का कोई रास्ता नहीं है। धर्म ईश्वर की सृष्टि करता है और हम जिस धर्म में पैदा होते हैं या तो उसमें स्वाभाविक तौर पर ही बने रहते हैं या फिर अपना मनचाहा धर्म स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन धर्म चाहे जो भी हो, सभी धर्मों का ईश्वर तो एक ही है। उनकी इस बात में इतना दम था जिसने उन्हें गुरुदेव के रूप में स्वीकार करने के लिये मुझे प्रेरित किया। मेरी सोच गुरुदेव की सोच से मिलती-जुलती थी, इसलिये मुझे उनकी बात बहुत अच्छी लगी।

अगर हम इतिहास पर ग़ौर करें तो पायेंगे कि धरती पर सबसे ज़्यादा मानवीय खून युद्धों की वजह से नहीं बहा बल्कि धर्मों की वजह से बहा है। इससे पुरानी कहावत, जो कहती है कि युद्धों की अपेक्षा धर्मों ने अधिक मनुष्यों का संहार किया है, सच साबित होती है। आख़िर हम क्यों आपस में लड़ रहे थे, केवल यही साबित करने के लिये न, कि मेरा ईश्वर तुम्हारे ईश्वर से बड़ा है। उस पर विडंबना यह कि हम कहते हैं कि ईश्वर एक है। ईश्वर दो हो ही नहीं सकते। अनन्त सत्ता तो केवल एक हो सकती है।

सचमुच, यह बात कितनी हास्यास्पद लगती है जब बुद्धिमान, पढ़े-लिखे, शिक्षित लोग यह कहते हैं कि मेरा ईश्वर ही ईश्वर है, तुम्हारे ईश्वर का तो अस्तित्व ही नहीं है। मैंने बौद्ध साहित्य का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। मन में बौद्ध बनने की इच्छा भी हुई चूँकि मैंने बौद्ध धर्म में भी इसी सत्य का दर्शन पाया कि ईश्वर हमारे अंदर विद्यमान है। बुद्ध ने भी बोधि वृक्ष के नीचे 40 दिन बैठकर अटूट ध्यान करके अपने अंतिम लक्ष्य, जिसे वे मोक्ष कहते हैं या जिसे बौद्ध धर्म में महापरिनिर्वाण कहा जाता है, को प्राप्त किया।

ईसामसीह ने भी ध्यान द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त किया। परम्परा को भी अगर हम मानें तो हमें दिखाई देता है कि पैगम्बर मुहम्मद ने भी अपना लक्ष्य ध्यान के द्वारा ही प्राप्त किया। गुरुदेव ने मुझे बताया कि गौतम बुद्ध बौद्ध नहीं थे। उनकी शिक्षाओं ने बौद्ध धर्म का रूप ग्रहण किया। उन्होंने कभी किसी धर्म की शिक्षा नहीं दी। उन्होंने तो जीवन जीने का तरीका सिखाया था – मानव कैसे बनें, कैसे जियें, पवित्रता के सद्‌गुणों का विकास कैसे करें, आत्मसंयम, दया, करुणा, प्रेम का विकास कैसे करें। अगर हम इन पूर्वकालीन पैगम्बरों की शिक्षाओं का अवलोकन करें तो पायेंगे कि सभी की शिक्षाओं में एक तत्त्व समान रूप से विद्यमान है – वह है प्रेम की ज़रूरत। शिक्षा कहती है : अपने पड़ोसी से उसी तरह प्रेम करो जैसे ख़ुद को प्रेम करते हो। हिन्दुओं का भक्तिवाद क्या है? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – ईश्वर से प्रेम करो। गीता में वे कहते हैं : ईश्वर हार में मोती पिरोने वाले धागे की भाँति सर्वभूतों को धारण करता है। अकसर यह सवाल उठता है कि हार में मोती महत्त्वपूर्ण है या उन्हें आपस में पिरोने वाला धागा? लेकिन यह बात हमें समझ लेनी चाहिये कि अगर पिरोने वाला धागा न हो तो हार भी नहीं होगा। मोती फर्श पर बिखरे पड़ें होंगे और हम उन्हें बटोरते रहेंगे।

जब भी हम अपनी संकीर्ण मानसिकता और धार्मिक कट्टरता को त्याग कर इन शिक्षाओं का निष्पक्ष अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि इन सभी पूर्वकालीन पैगम्बरों और धर्मों की शिक्षाओं का सार एक ही है।

गुरुदेव ने कहा कि जब तुम यह जान ही गये हो कि सभी ने एक ही शिक्षा दी और वह वही थी जो मेरे गुरुदेव लालाजी महाराज ने दी, तो फिर इधर-उधर क्या तलाश रहे हो? जो अभ्यास उन्होंने किया, वही अभ्यास तुम करो।

अगर कोई *आइसक्रीम* खाकर कहता है कि यह अच्छी चीज़ है तो हमें भी इसे खाकर ही यह कहना चाहिये कि यह अच्छी है। हमारा ख़ुद का अनुभव ही हमें ज्ञान की गहन ऊँचाईयों और आत्मज्ञान की गहराइयों तक पहुँचा सकता है। अपनी पद्धति में हम परम अनन्त तात्विक सिद्धान्त की खोज ध्यान द्वारा करते हैं। इस तात्विक सिद्धान्त को हम चाहे जिस नाम से पुकारें, कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि यह तात्विक सिद्धान्त नाम, रूप, गुण, आकार से रहित है। नाम या आकार तो हम अपनी सुविधा के लिये दे देते हैं। ईश्वर ने कभी अपने नाम की घोषणा नहीं की। उसने तो केवल इतना कहा - मैं यहाँ हूँ, तुम मेरे पास आओ।

इसलिये जन्म से हिन्दू होते हुये भी अगर मुझे चर्च में जाने पर संतोष, सांत्वना और आराम मिले तो मुझे चर्च जाने में क्योंकर आपत्ति होनी चाहिये। बौद्ध धर्म और रामकृष्ण मिशन के ध्यानकक्षों में जाने पर अगर हमें आराम, सहायता और प्रेम मिलता है तो मेरी समझ में नहीं आता कि हमें इन स्थानों पर क्यों नहीं जाना चाहिये। मेरी समझ में तो ये सारे स्थान एक से ही हैं। अपने यहाँ के ध्यानागारों में भी ध्यान करके जब मैं वही वस्तु पाता हूँ - वही सत्य, वही सर्वव्यापक प्रेम, करुणा, दया, तब अपने आप ही हमें यह मालूम हो जाता है कि किसी भी धर्म में कोई ख़ास बात नहीं है। मेरी राय में तो सभी धर्मों का ईश्वर एक ही है जिसे भिन्न-भिन्न स्थानों में, भिन्न-भिन्न नामों से, भिन्न-भिन्न रीतियों से पूजा जाता है। अगर इन उपासना पद्धतियों में कहीं से दिल का महत्त्व स्थापित हो जाये तो फिर मेरा मानना है कि कहीं कोई फ़र्क नहीं रह जायेगा।

हिन्दी में एक कहावत है - प्रेम करो अर्थात् प्रेमी बनो। अब इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि हम उस प्रेम का प्रदर्शन कैसे करें। बच्चे के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने के लिये हम उसे खिलौने का उपहार देते हैं, गुरु के

लिये फल-फूल का उपहार ले जाते हैं और प्रेमिका के लिये उसकी पसंद की कोई वस्तु ले जाते हैं। ये सब क्या हैं? केवल प्रेम की अभिव्यक्तियाँ। पूर्वी परम्परा में उपहार ले जाने की जो परम्परा है उसके पीछे कारण केवल इतना ही है - प्रेम की अभिव्यक्ति। यह कतई ज़रूरी नहीं है कि उपहार महँगा हो और खूबसूरत ढंग से उसकी *पैकिंग* की गयी हो। उपहार देने के पीछे हमारा मक़सद केवल इतना होता है कि हम जिसे उपहार दे रहे हैं, उसके प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्ति कर पायें। गुरुदेव ने एक बार मुझसे कहा - जब आपका कुत्ता आपके सामने पूँछ हिलाता हुआ आता है, वह बगीचे से एक हड्डी मुँह में दबाकर लाता हूँ। कुत्ते के लिये वह हड्डी सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु है। वह हड्डियाँ पसन्द करता है। अब अगर आप कहने लगें - नहीं, नहीं, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं हड्डी नहीं छुऊँगा। इस प्रकार आप कुत्ते से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर सकते। उसे लें, दूर फेंकें और कुत्ते को उसे वापस लाने दें। इससे दोनों का दिन सुधर जायेगा - कुत्ते का भी और आपका भी।

इसलिये याद रखिये कि सभी उपहार प्रेम के उपहार हैं। बहुत दिनों पहले मैंने एक कहानी पढ़ी थी : मैगी का उपहार। इस कहानी ने मुझे बहुत प्रभावित किया। कहानी का लेखक कौन था, मुझे याद नहीं है। यह कहानी एक युगल प्रेमी की है। ये लोग अत्यन्त निर्धन थे और जिस कोठरी में ये रहते थे उसमें एक ही खिड़की थी। इससे वे रात में आकाश के तारों को देखा करते थे। लड़की के बाल बहुत सुंदर, लम्बे और सुनहरे थे। वह एक दुकान में रखे कंघियों के जोड़े को लालसा भरी निगाह से हमेशा देखा करती थी। लड़के के पास एक सुंदर घड़ी थी जिसके लिये वह एक दुकान में सोने की *चेन* को हरदम निहारा करता था। क्रिसमस का त्यौहार आने को था और उन दोनों की कुछ जमापूँजी केवल ढाई *पेनी* थी। वे दोनों एक-दूसरे को उपहार में कुछ देना चाहते थे। उन्हें खरीदने के लिये ऐसी हजारों ढाई पेनियों की ज़रूरत थी।

क्रिसमस की बेला में सबेरे दोनों अपने-अपने काम पर गये। शाम को जब वे लौटकर घर आये तो दोनों एक-दूसरे को देखकर आश्चर्यचकित थे। लड़की ने अपने केश कटवा दिये थे और उनसे जो पैसे उसे मिले उससे वह उपहार ले आयी। इसी तरह लड़के ने भी उपहार देने के लिये अपनी घड़ी बेच दी थी। दोनों ने जब अपने-अपने उपहार के पैकेट खोले तो देखकर दंग रह गये। प्रेमी के पैकेट में उपहार था - उसकी घड़ी के लिये सोने की चेन, जबकि प्रेमिका के पैकेट में उपहार था उसके सुंदर बालों के लिये कंघियाँ। लेकिन अफ़सोस की बात दोनों के लिये यह थी कि एक ने जहाँ उपहार देने के लिये अपने केश बेच दिये थे, वहीं दूसरे ने उपहार के लिये अपनी घड़ी बेच दी थी। दोनों ने जब वास्तविकता को जान लिया, दोनों एक-दूसरे की बाँहों में समा गये। प्रेम और खुशी के आँसू से दोनों सराबोर थे।

प्रेम की अभिव्यक्ति बलिदान के रूप में होनी चाहिये। जहाँ प्रेम का अस्तित्व है वहाँ बलिदान होना ही चाहिये क्योंकि दोनों अंततः एक ही हैं - एक ही सिक्के के दो पहलू। मैं प्रेम करता हूँ - यह कहकर अपनी प्रेमिका से दूर भाग जाने का कोई अर्थ नहीं है। जब भी आप किसी को प्रेम करते हैं, आप को देखना चाहिये कि क्या आप उसके लिये किसी भी चीज़ का बलिदान करने को तैयार हैं? प्रेम करने पर बलिदान, बलिदान नहीं रह जाता। यह कुछ ऐसी बात हो जाती है जिसे आप अत्यंत प्राकृतिक एवं धाराप्रवाह रूप में करते रहते हैं। ठीक वैसे ही जैसे कोई माँ अपने बच्चे के लिये करती है।

यही सब अध्यात्म के सिद्धान्त हैं। गुरुदेव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा है कि जहाँ धर्म समाप्त होता है वहीं से आध्यात्मिकता की शुरुआत होती है। उनकी दूसरी शिक्षा कहती है कि धर्म ने मनुष्य को विभिन्न पंथों, सम्प्रदायों तथा धर्मों में विभाजित कर रखा है जो परस्पर घृणा और संदेह पर निर्भर हैं, जबकि आध्यात्मिकता हमें आपस में जोड़ती है। आध्यात्मिकता में हम किसी नामधारी ईश्वर को नहीं पूजते। हम किसी पुस्तक में दिये गये सिद्धान्तों का अनुकरण नहीं करते। यहाँ हम नैतिकता, प्रेम, बलिदान जैसे गुणों के विकास पर ज़ोर देते हैं। यहाँ बड़े से बड़ा बलिदान भी किया जा

सकता है जैसा ईसामसीह ने किया था – जिनसे वे प्रेम करते थे, उनके लिये स्वयं के प्राणों का बलिदान।

वस्तुत: आध्यात्मिकता में धर्मों का दोमुँहापन नहीं रहता। इसमें कई प्रकार की पूजा विधियों को महत्त्व नहीं दिया जाता। कौन सा ईश्वर सच्चा है – यह प्रश्न भी यहाँ नहीं उठता। ईश्वर तो वस्तुत: एक ही होता है। फिर हमारे ईश्वर और उनके ईश्वर में कोई भिन्नता कैसे हो सकती है? इसलिये हमें चाहिये कि हम अपनी शताब्दियों पुरानी बेवकूफ़ी को भूलकर जिसमें हम सत्य की साधना किये बिना ही सत्य-सत्य चिल्लाते रहे, एकत्व स्थापित करने की कोशिश करें। वस्तुत: हमारे धर्म सिद्धान्त और तात्विक सिद्धान्त तो एक ही हैं, चाहे आप यूरोपियन होने के नाते भोजन करते समय छुरी-काँटे का प्रयोग करते हों और हम अँगुलियों का, बात तो एक ही है।

आध्यात्मिकता लोगों को एकत्रित करके मानवता के एकत्व में उनका विराट् भावातीत मिलन कराती हैं। यहाँ हृदय पर ध्यान के अभ्यास द्वारा मानवीय मूल्यों का ध्रुवीकरण किया जाता है। मानवीय मूल्यों के बारे में शुरू से मेरी धारणा है कि प्रेम और करुणा, ये सर्वोपरि मूल्य हैं। अपने धर्म संस्थापकों की प्रशंसा करने से कोई लाभ नहीं है। अगर मैं सच्चा हिन्दू हूँ तो मुझे अपने धर्म संस्थापकों के सिद्धान्तों : प्रेम, करुणा और दया का अनुपालन करना चाहिये। जो सच्चा ईसाई होने का दावा करता है, उसे ईसामसीह द्वारा बताये गये प्रेम, करुणा और दया के सिद्धान्तों के अनुपालन में समर्थ होना चाहिये। अगर बौद्ध हैं, तो बुद्ध द्वारा बताये गये प्रेम, करुणा और दया के सिद्धान्तों के अनुपालन में हमें समर्थ होना चाहिये। अगर हम ऐसा नहीं कर रहे हैं, तो हमें यह समझना चाहिये कि हम अपने-अपने धर्मों के साथ प्रवंचना कर रहे हैं। मेरे विचार में अगर हम उनके सिद्धान्तों का अनुपालन नहीं कर रहे हैं तो हमें अपने धर्म के संस्थापक का नाम भी अपने होठों पर लाने का अधिकार नहीं है। अगर हम इन सिद्धान्तों को अपने जीवन में नहीं अपनाते, प्रेम, करुणा और दया के इन मानवीय मूल्यों को अपने जीवन में कोई स्थान नहीं देते, अपने धर्म संस्थापक की भाँति सम्पूर्ण मानवता से प्रेम नहीं करते, और उसने जो बलिदान किये, वैसा

बलिदान नहीं करते और केवल उसका नाम रटते रहते हैं, तो मेरी नज़र में तो यह ईश्वर निन्दा से भी ज़्यादा बड़ा पाप है।

बाइबिल हमेशा के लिये मेरे लिये महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रहा है। मैंने आपको बताया भी है कि मैंने करीब आठ सालों तक ईसाई धर्म का अभ्यास किया है। मैंने धर्म परिवर्तन नहीं किया है, लेकिन ईसाई धर्म का अभ्यास तो किया ही है। शायद यह अभ्यास मेरे लिये ज़रूरी भी रहा हो। अपने गुरुदेव के श्रीचरणों में पहुँचने के करीब 6 माह बाद ध्यान में एक दिन मैंने दिल दहला देने वाला गहन अर्थपूर्ण साक्षात्कार का अनुभव किया। इस अनुभव से मेरा दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया। इस अनुभव में मैंने देखा कि ईसामसीह सूली पर लटकाये जा रहे हैं। अनुभव में मैंने विशाल पर्वत भी देखा। ईसामसीह अपने कंधों पर विशाल *क्रॉस* का भार लिये जा रहे थे। रोमन सैनिक उनकी पीठ पर कोड़े बरसा रहे थे। यहूदी उनकी खिल्ली उड़ा रहे थे। साथ में दो तीन *क्रॉस* और थे जिन पर चोरों को लटकाया गया था। ईसामसीह को जिस समय सूली पर चढ़ाया गया, उनकी अंतिम पुकार सुनाई दी : हे प्रभु! तुमने भी मुझे छोड़ दिया। इस दृश्य ने मुझे हिलाकर रख दिया।

मेरा दिल दहल गया, आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी यह स्थिति देखकर बाबूजी महाराज ने मुझसे पूछा : आज तुम ध्यान में क्यों रो रहे थे? मैंने उन्हें अपना अनुभव बताया कि आज मैंने ईसामसीह को सूली पर चढ़ाये जाते हुये देखा। इस पर वे बोले : देखो! तुम हिन्दू हो और तुमने अपनी अंतर्दृष्टि से ईसामसीह को सूली पर चढ़ाये जाने का दृश्य देखा जो उनके जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है, उनके जीवन मोक्ष का अंतिम क्षण। फिर तुम्हें ईसाईयत में आस्था रखने के लिये, ईसामसीह का साक्षात्कार करने के लिये ईसाई बनने की ज़रूरत क्या है? क्या तुमने बुद्ध को अपने अनुभव में नहीं देखा? मैंने बताया कि उन्हें भी देखा। तुमने कृष्ण भगवान को अपनी अंतदृष्टि में नहीं देखा? मैंने बताया कि तीन दिन पहले ही कृष्ण जन्माष्टमी के दिन मुझे श्रीकृष्ण के दर्शन हुये थे। उनका दाहिना

हाथ अभयमुद्रा में उठा हुआ था और उनकी हथेली से नीले वर्ण का प्रकाश प्रवाहित होकर सीधे मेरे हृदय में प्रवेश कर रहा था।

वस्तुतः हलवे के स्वाद का प्रमाण तो उसके चखने में है। मैंने सत्य का अनुभव किया है। इन सभी महान धार्मिक आस्थाओं के अत्यन्त मौलिक, जीवन विदारक, भावना विदारक अनुभवों को मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभवों में जिया है और बिना किसी धर्म के, नामधारी ईश्वर के और बिना किसी रीतिबद्ध पूजा के अंतर में विद्यमान परमतत्त्व का ध्यान किया है। सभी धर्मों में योगी पुरुष हुये हैं। उन्हें योगी इसलिये कहा जाता है चूँकि उन्होंने ईश्वर को बाहर खोजने की बजाय अपने अंतर में; अपने हृदय में खोजा। वे किसी धर्म के अनुयायी नहीं थे। जन्म से चाहे कोई ईसाई रहा हो, मुसलमान रहा हो या हिन्दू, लेकिन सब अंत में योगी बने। इसलिये आध्यात्मिकता का यह संदेश कि ईश्वर एक है, अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। किसी को भी यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिये कि उसका और मेरा ईश्वर भिन्न है। यह वैसे ही है जैसे हम सोचें कि हम भारतीय हैं और आप डेनिश। इसलिये आपके लिये कोई डेनिश ईश्वर होना चाहिये और मेरे लिये भारतीय। अगर आप ईसाई हैं तो आपके लिये कोई ईसाई ईश्वर होना चाहिये। यह तो निरा पागलपन है। वस्तुतः ईश्वर तो हम सबको यानी पूरी मानवता को एक सूत्र में पिरोने का कारक है।

आध्यात्मिकता कहती है कि हम चाहे जिस रूप में जन्मे हों लेकिन सर्वप्रथम हमें मानव बनना चाहिये। चाहें हम डेनिश हों, जर्मन हों, स्त्री हों या पुरुष, सर्वप्रथम हमें मानव बनना है। हमारा जन्म कहाँ हुआ और हम किस धर्म के मानने वाले हैं – इससे हमारे मानव बनने के लक्ष्य में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। हमें यह समझना चाहिये कि हम एक ही ईश्वर की संतान हैं। सब आपस में भाई-बहन हैं और एक-दूसरे की सहायता के लिये प्रतिबद्ध हैं। किसी को दान देकर या पीड़ित राष्ट्र की मदद करके, हम किसी की सहायता के प्रति प्रतिबद्ध हैं, यह प्रमाणित नहीं कर सकते। हमें तो ऐसी सहायता करने को तत्पर होना चाहिये जैसी हम अपने सगे भाई की करते हैं, जैसा ईसामसीह ने किया। उन्होंने तो मरे हुओं को जीवन प्रदान किया।

उन्होंने लेज़ारस को पुनः जीवन प्रदान किया। आप सब लोग अपने धर्म और धार्मिक शिक्षाओं का अनुकरण कीजिये जिससे वह ईश्वर, जिसकी आप पूजा करते आ रहे हैं, आपसे प्रसन्न हो जाये और कहे : मेरे पुत्र! समचुम तुम मेरे पुत्र हो। मुझे तुम पर गर्व है।

धन्यवाद!

7
प्रेम का मार्ग

मुझे लगता है कि डेनिश भाषा में इतने व्याख्यानों को सुनने के बाद अब मुझे अँग्रेजी भाषा में बोलने के लिये फिर से प्रयास करना पडेग़ा। मुझे पता भी नहीं कि उन्होंने क्या-क्या कहा। वैसे भी चार वक्ताओं को सुनने के बाद व्याख्यान देना हमेशा कठिन होता है। यहाँ तो मुझे पता ही नहीं है कि उन वक्ताओं ने क्या कहा है। हो सकता है कि मैं उनके द्वारा कही गयी बातों को ही दुहराता रहूँ।

हो सकता है कि मैं आज आपको यह बताऊँ कि मैंने क्या किया और क्यों किया? मैं पिछले 50 सालों से योग के क्षेत्र में लगा हूँ। 15 साल की आयु में मैंने इस क्षेत्र में कदम रखा था और आज मेरी उम्र 65 वर्ष है। मुझे नहीं मालूम कि मैंने इस क्षेत्र में कदम क्यों रखा? शायद आपमें से अधिकांश लोगों की हालत ऐसी ही होगी। मालिक से तो मैं 1964 में मिल पाया, उसके पहले मैं 25 साल ख़ुद योगाभ्यास करता रहा। जब मैंने गुरुदेव को यह बात बतायी तो उन्होंने कहा : इस दुनिया में ऐसा सोचने वाले तुम पहले व्यक्ति नहीं हो। बहुत थोड़े से लोग तुम्हें मिलेंगे जिन्हें यह पता होगा कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं। अगर हम अपने अतीत पर ग़ौर न करें तो शायद इस तथ्य को स्वीकार करना हमारे लिये कठिन हो जाये। उदाहरण के तौर पर मैंने *केमिस्ट* बनने के ख़याल से *केमिस्ट* बनने का प्रशिक्षण लिया था। इसके बाद मैं भूगर्भ शास्त्री बना।

इसके बाद मैंने एक भारतीय कम्पनी में *सेल्स मैंन केमिस्ट* बनने के ख़याल से *केमिस्ट* बनने का प्रशिक्षण लिया था। इसके बाद मैं भूगर्भशास्त्री बना। इसके बाद मैं एक भारतीय कम्पनी में *सेल्स मैंन* की नियुक्ति पा गया। बाद में तरक़्क़ी पाकर पहले *मार्केटिंग मैनेजर बना*, फिर *मार्केटिंग डायरेक्टर*, तत्पश्चात कम्पनी का कार्यकारी निदेशक बना, फिर कम्पनी के पूरे समूह का कार्यकारी निदेशक बना। जब मैं सेवानिवृत हुआ, मैं यह सोचने लगा कि आख़िर मैं स्कूल गया ही क्यों था। मुझे *केमिस्ट्री* या भूगोल पढ़ने की ज़रूरत ही क्या थी। सचमुच मुझे यह सब पढ़ने की कोई ज़रूरत नहीं थी।

वस्तुतः सच तो यही है कि हम यह न जानते हुए भी कि हमें शुरुआत कहाँ से करनी चाहिये, कहीं से भी शुरुआत कर देते हैं। हर युवक अपनी किशोरावस्था से लेकर वयस्क होने की अवस्था तक इसी उलझन में पड़ा रहता है कि अब मैं क्या करूँ? अपनी पढ़ाई जारी रखूँ या नौकरी करूँ? उदाहरण के लिये अगर आप डेनिश हैं तो क्या मैं शादी कर लूँ? वस्तुतः कुछ करने के पहले हम कुछ नहीं जान रहे होते हैं। हमारे माता-पिता या तो हमारी मदद नहीं करना चाहते या फिर हमारी मदद करने में समर्थ नहीं होते। वे कहते हैं : भाई! इस बात का निर्णय तो तुम्हें ही करना होगा। एक समय था जब युवाओं को अपने माता-पिता से काफ़ी हद तक मार्गदर्शन मिल जाया करता था। अपने युवाकाल में मैं जब भी सड़क पर निकलता था - सब्जी खरीदने या कुछ भी करने, बड़े-बूढे रोक-रोक कर पूछते थे कि आजकल तुम क्या कर रहे हो। तुम फलाँ काम क्यों नहीं कर लेते? भारत में यह सामान्य बात है। अगर हम ट्रेन में यात्रा कर रहे होते हैं तो लोग पूछते हैं : तुम्हारी उम्र क्या है? तुम्हारे साथ जो स्त्री बैठी है, क्या यह तुम्हारी पत्नी है? तुम्हें कितना वेतन मिलता है? यह सब प्रश्न पूछना भारत में बहुत सामान्य बात है। यूरोपीय लोग जब पहली बार भारत आते हैं तो इन व्यक्तिगत प्रश्नों की बौछार से तिलमिला जाते हैं लेकिन करें क्या, उत्तर तो देना ही होता है।

मैं ये सब बातें केवल इसलिये कर रहा हूँ क्योंकि मैं आप सब लोगों को यह समझाना चाहता हूँ कि जैसे-जैसे हमारी उम्र बढ़ती है, हमारी समझ

में आता जाता है कि केवल हमारा कल्याण ही सब कुछ नहीं है बल्कि दूसरों के कल्याण के लिये भी हमें सोचना चाहिये। परिवार के सदस्य, समाज के सदस्य और इस संसार के हर सदस्य से हम व्यक्तिगत रूप से कहीं न कहीं जुड़े हुये हैं। इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि हम सबके कल्याण के बारे में सोचें। लेकिन दुःख की बात है कि हमें शुरू से ही यह सिखाया जाता है कि हमें अपने बारे में सोचना चाहिये। हमें यह सिखाया जाता है कि हम अपने भाग्य के निर्माता स्वयं हैं। मेरा भाग्य ख़ुद मेरे हाथ में है।

वास्तव में होता यह है कि हम जल्दी ही इस असलियत से परिचित हो जाते हैं कि न तो मेरी कोई नियति है और न ही मैं इस नियति को बनाने की सामर्थ्य रखता हूँ। मेरे अंदर कोई है जो बिना मेरी जानकारी के मुझे किसी अनजान दिशा में लिये जा रहा है। रसायनशास्त्री, भूगर्भ शास्त्र पढ़ रहा है। फिर विक्रय में लग जाता है और इस कार्य में इतना तन्मय हो जाता है कि इस कार्य से प्रेम करने लगता है। इस कार्य से प्रेम करने के पीछे एक कारण यह भी है कि इससे मुझे अधिकाधिक लोगों से मिलने और उनसे बातचीत करने का अवसर मिला। इससे सबसे बड़ा लाभ तो मुझे यह हुआ कि मेरा शर्मीलापन जाता रहा। मैंने पाया कि विक्रय की जाने वाली वस्तु या विक्रय विद्या के बारे में कुछ न जानते हुये भी इस क्षेत्र में मैं बहुत कुछ कर सकता था। मैं आपसे मज़ाक नहीं कर रहा हूँ। सचमुच मैं इस क्षेत्र में बहुत कुछ कर सकता हूँ। मैं अपनी कम्पनी के उच्चतम पायदानों पर पहुचाँ – एक ऐसी शिक्षा पाकर जिसका इस क्षेत्र से दूर-दूर तक कोई रिश्ता न था। मैंने उन वस्तुओं की भी बिक्री की जिन्हें मैं कभी बेचना पसंद नहीं करता था। मेरी सफलता का राज केवल यह था कि मैंने हर समय और बिक्री की हर प्रक्रिया में अपने कार्य में आनन्द लिया।

अपने गुरुदेव के पास पहुँचने पर मैंने उनसे पूछा कि यह सब क्या है? आख़िर यह नासमझी मैंने क्यों की? इसमें क्या रहस्य है? उन्होंने जवाब दिया : क्या तुम यह समझ गये कि तुम क्या हो? तुम इसे कभी नहीं समझ सकोगे। तुमने पाया कि तुम *केमिस्ट* नहीं हो, न ही तुम भूगर्भशास्त्री हो।

केमिस्ट्री या भूगोल का अध्ययन करने से कोई केमिस्ट या भूगर्भशास्त्री नहीं हो सकता। विक्रय के क्षेत्र में तुम अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ गये और तुम एक उत्कृष्ट विक्रयकर्त्ता बन गये। तुम्हें वह वेतनमान मिला जो भारत में किसी बड़े से बड़े व्यक्ति को दिया जाता है।

इसीलिये आध्यात्मिकता कहती है कि हमें अपने अंदर झाँककर यह देखने का प्रयास करना चाहिये कि हम क्या हैं और हमें क्या करना है। पाठ्यक्रमों और उपलब्ध प्रशिक्षणों का कोई मतलब नहीं है। हम पहले यह पता लगाते हैं कि कौन सा प्रशिक्षण सबसे सस्ता है। कौन सा विश्वविद्यालय सबसे अच्छा है। अमेरिका जाकर हम खूब धन कमायें, या इंगलैंड जाकर हम अच्छी पढ़ाई करें? जर्मनी जाकर विज्ञान और तकनीकी में निपुणता प्राप्त करें या भारत में रहकर व्यापार करें और ढेर सारा धन कमायें? हममें से अधिकांश लोग ऐसे ही हैं जो इन विषयों पर मंथन करते रहते हैं। हम चाहते हैं कि हम इन सब चीज़ों का मिला-जुला रूप हों। हम वैज्ञानिक भी बनना चाहते हैं और कृषि वैज्ञानिक भी, विमानचालक भी बनना चाहते हैं और व्यवसायी भी। सभी युवाओं के अपने-अपने कल्पना लोक होते हैं।

आख़िर इसके पीछे वास्तविकता क्या है? पहली बार जब मैं गुरुदेव से मिला, उनका कहना था : अस्तित्व दो प्रकार के होते हैं - बाहरी और अन्दरूनी। हमारी सभी जिज्ञासायें, आकांक्षायें, हमारे आदर्श, हमारे अंदर से आते हैं। हम जिस क्षेत्र में कार्यरत् हों, उस क्षेत्र में प्रगति की आकांक्षायें, सफलता प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षायें हमारे बाह्य अस्तित्व से आती हैं। हमें अपनी आकांक्षाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के बीच संतुलन स्थापित करना होता है। अपनी भौतिक प्रगति को हमें अपनी आंतरिक आकांक्षा से संतुलित करना होता है, जो निर्दोष होती है और आदर्श होने की आकांक्षा रखती है।

युवावस्था में हमारे अंदर आदर्शवादिता कूट-कूट कर भरी होती है। 18-19 साल की अवस्था तक तो हम इतने आदर्शवादी होते हैं कि अपने माता-पिता से भी झगड़ा करने को उतारू रहते हैं। मुझे याद है कि एक बार मैंने अपने पिताजी को झूठ बोलने पर टोक दिया था और उनसे

कहा था कि आपको झूठ नहीं बोलना चाहिये। उन्होंने मुझे डाँटकर चुप करा दिया। उन्होंने कहा : मैं तुमसे बड़ा हूँ। मुझे तुमसे बेहतर मालूम है। मैंने फिर तर्क किया : अगर आप मुझसे बेहतर जानते हैं तब तो आपको बिलकुल ही झूठ नहीं बोलना चाहिये। इस पर मेरी पिटाई भी हुई।

अगर बचपन में हमारी आदर्शवादिता का अंजाम हमें इस प्रकार मिले तो फिर हमारा क्या होगा? साथ में हमें यह भी सिखाया जाये कि अगर इतने आदर्शवादी बनोगे तो तुम्हारा जीवन सफल नहीं होगा। सच्चाई और ईमानदारी के रास्ते पर चलकर तुम जीवन में कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। आजकल तो अगर आप व्यापार में गड़बड़ी नहीं करते तो आप व्यापार में सफल हो ही नहीं सकते। ईमानदारी सर्वोत्तम सिद्धान्त है – यह केवल पुस्तकीय ज्ञान है। सत्यवादिता, पवित्रता, नैतिकता, सदाचार – ये सब किताबी बातें रह गयी हैं जो पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रही हैं।

आज तो दर्शन, मनोविज्ञान और अध्यात्म, तीनों द्वारा अनुशासित पवित्र और निर्दोष जीवन जीने की बात को भूल जाने में ही हमें अपने जीवन की सफलता दिखायी देती है। इन शास्त्रों से संबंधित पुस्तकें हमारे पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रही हैं और हम बनावटी मापदण्डों के आधार पर अपना जीवनयापन कर रहे हैं। स्वामित्व, अर्जन, प्रदर्शन जैसे कृत्रिम मूल्यों को जीवन में स्थान देकर हम कहते फिर रहे हैं : देखो! मैं कितना सफल व्यक्ति हूँ। हालाँकि अपने हृदय में हम यह बात बख़ूबी जानते हैं कि हम सफल व्यक्ति नहीं हैं। कोई भी बेवकूफ़ महल खड़ा कर सकता है। एक महल या साम्राज्य खड़ा करने में कौन सी बड़ी बात है? क्या हम इसे अपने साथ ले जा सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर हमें ख़ुद ढूँढ़ना होता है। जब हम महाप्रयाण करेंगे, अपने साथ क्या-क्या ले जायेंगे? सुंदर कैसेट, सुंदर महल, सुंदर लॉन, कुत्ते, घोड़े – सब यहीं छूट जायेंगे। हमारे बाद हमारी इन सभी चीज़ों का उपभोग करने वाला कोई और होगा।

मैं ऐसे बहुत से लोगों को जानता हूँ जो भावनाओं से इतने जुडे हुये हैं कि धन की ज़रूरत होने पर भी अपना मकान नहीं बेच सकते। वे

कहेंगे : अरे! मैंने एक-एक ईंट जोडक़र इस मकान को बनाया है। *लेकिन आज तो आप मरने की हालत में हैं, इस घर को आप बेच क्यों नहीं देते?* ''नहीं, नहीं, आप नहीं जानते, मेरा हृदय तो इस घर में ही लगा हुआ है।'' *लेकिन मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारा हृदय तुम्हारे शरीर के अंदर है।* ''नहीं भाई! तुम तो बस तर्क-वितर्क करने लगते हो। तुम मेरी बात नहीं समझ पाओगे। तुम्हारा मकान होता तो तुम इसका दर्द समझते।'' मैंने कहा : ईश्वर का बहुत-बहुत शुक्र है कि मेरे पास कोई मकान नहीं है। तुम्हारे पास मकान तो है लेकिन तुम उस मकान में आनन्द के साथ नहीं हो बल्कि अर्थाभाव के कारण संत्रस्त होकर हो, और तुम्हें अपने इस मकान से इतना लगाव है कि तुम इसे बेचना भी नहीं चाहते। जबकि मैं बेघर होकर भी हर रोज़ एक नये मकान में रात्रि विश्राम करता हूँ। मैं हर उस सुविधा का उपभोग करता हूँ जो मेरी सामर्थ्य में है। मैं डेनमार्क में गर्म कमरों में गर्म बिस्तरों पर सोता हूँ और अमेरिका में ठडें कमरों में। भारत में मैं प्राकृतिक सुविधाओं से युक्त कमरों में सोता हूँ। ऐसी स्थिति में मैं किसी वस्तु का स्वामित्व अपने ऊपर क्यों लादूँ? क्या किसी मकान में रहने के लिये यह ज़रूरी है कि मैं उस मकान का मालिक बनूँ? क्या भोजन करने के लिये यह ज़रूरी है कि मैं ख़ुद अनाज का उत्पादन करूँ? हमें तो भोजन चाहिये, इसका उत्पादन कौन करता है, यह देखने से हमारा क्या फायदा?

जब हम अपने बाह्य जीवन पर अधिक एकाग्र होते हैं तो हमारा आंतरिक जीवन एक प्रकार के नारकीय अंधकार में गुम हो जाता है। आख़िर यह आंतरिक जीवन, जो हमारा वास्तविक जीवन है, कब तक इस प्रकार गुम रहेगा। अगर हम छोटे बच्चों की क्रियाशीलता पर ग़ौर करें तो पायेंगे कि उनके हृदय में भौतिक वस्तुओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। आप उन्हें चाहे जितना बहुमूल्य खिलौना दें वे उसे खोलेंगे ओर तोड़कर फेंक देंगे। चाहे आपने 7000 क्रोनर में रॉयल कोपेनहेगने कम्पनी का क्रिस्टल फूलदान ही उसे खरीद कर दे दिया हो, वह उसे तोडक़र रख देगा क्योंकि बाहरी वस्तु का उपयोग वह अपने अंदर की वस्तु को जानने के लिये करना चाहता है।

हम क्या कर रहे हैं – यह जानने के बाद भी हम अपने आनन्द के लिये उन्हीं वस्तुओं की रचना कर रहे हैं, जिन्हें वे तोड़ देते हैं। यह देखने की बात है कि हमारे अस्तित्व का कैसा मख़ौल बनाया जा रहा है? मेरे बचपन में, युवावस्था में, मेरे अंदर आदर्शवाद विद्यमान था जिसकी वजह से मैं भौतिक वस्तुओं और संपत्ति के लिये भी निश्चिंत था। लेकिन आज हमें इसकी ज़रूरत नहीं रह गयी है। हम ऐसी संपत्ति को अपने सीने से लगाकर बैठे हैं जिनका हम उपयोग भी नहीं कर सकते, जैसे एक लाख सत्रह हजार क्रोनर का रॉयल कोपेनहेगने का अश्व। पिछले सप्ताह मैं सोच रहा था कि अगर मेरे पास पैसा होता तो शायद मैं भी इसे खरीदने की मूर्खता कर बैठता। लेकिन मैं उस पर सवारी तक नहीं कर सकता था। सवारी के लिये, लोगों ने बताया कि मैं केवल 6000 क्रोनर में आइसलैण्ड से बढ़िया घोड़ा खरीदकर उस पर सवारी कर सकता हूँ।

हमेशा होता यही है कि हम पहले अपनी ज़रूरतों का सामान खरीदते हैं। बाद में ग़ैर ज़रूरी चीज़ों का भी संग्रह करने लगते हैं। जिनका हमारी ज़िन्दगी में कोई ख़ास महत्त्व तो नहीं होता लेकिन जिन्हें लेकर हम सारी ज़िन्दगी परेशान ज़रूर रहते हैं। उनकी सुरक्षा के लिये निजी सुरक्षा कम्पनियों के जवानों को लगा लेते हैं। आज हालत यह है कि अगर मैं कोई सामान खरीदता हूँ तो मुझे उसकी सुरक्षा भी करनी पडती है यानी उसकी संरक्षा भी हमें खरीदनी पड़ती है। फिर घर के अंदर सोने के बाद भी हम इस विचार से परेशान रहते हैं कि पता नहीं यह सुरक्षा–व्यवस्था काम कर पायेगी या नहीं।

आध्यात्मिकता कहती हैः तुमने इस संसार में जन्म लिया है तो तुम्हें जीना ही है और जब तक जीवित हो, तुम्हें इसे संरक्षित भी रखना है। इसे सुरक्षित रखो और यथायोग्य सुविधा प्रदान करो। यथेष्ट काम करो और खाना खाओ। इतना, जितना तुम्हारे जीविकोपार्जन के लिये ज़रूरी हो, जिससे तुम निरोग और स्वस्थ रह सको। तुम्हें 'ही–मैन' थोड़े ही बनना है। फिर हम क्या करें? हमारे पास समय तो बहुत है। ध्यान करो। क्योंकि तुम्हें अपना आंतरिक जीवन भी आरम्भ करना है और इसे संतुलित बनाना है। युवावस्था में जब यह संभव था, तुमने इसे शुरू नहीं किया। वयस्क होने

पर भी इसकी संभावना थी लेकिन तुमने तब भी इसे शुरू नहीं किया। क्या वृद्धावस्था में इसे शुरू कर पाओगे? युवावस्था में तो तुमने केवल बेवकूफ़ी भरे काम किये – घुड़सवारी, दौड़ इत्यादि। आप कहते हैं : चारीजी! बुढ़ापे में तो मैं यह सब काम कर नहीं पाऊँगा तो क्यों न मैं इन कामों को अभी कर लूँ। हम यह नहीं समझते कि बुढ़ापे में हम आंतरिक जीवन की शुरुआत कैसे कर पायेंगे? ध्यान करने की सामर्थ्य पता नहीं हममें रह पाये या नहीं। पता नहीं हम आँखें बंद कर किसी अस्पताल में पड़े मिलें या घर पर रहकर भी आँखें बंद करने में अक्षमता महसूस करें। हो सकता है कि हम किसी ऐसे वृद्धाश्रम में पड़े मिलें जहाँ हमारा जीवन संत्रास से भरा हुआ हो। हमारी देखभाल करने वाला वहाँ कोई न हो। हम रात–दिन अपने संताप का चिन्तन करते रहें और इस तरीके से और अधिक संतापित होते रहें। ऐसी स्थिति में हम क्या कर पायेंगे?

इसलिये वयस्क जीवन, प्रौढ़ जीवन या वृद्धावस्था के लिये नींव हमें तभी डाल लेनी चाहिये जब यह संभव हो, और यह संभावना अभी है जब हम युवा हैं। हमें यह समझ लेने की ज़रूरत है कि जब तक हम अपने आंतरिक और बाह्य जीवन को संतुलित नहीं कर लेते हम संत्रस्त रहेंगे, भले ही हमारा जीवन–स्तर अद्भुत हो जायें, हम आलीशान घरों और कारों के मालिक हो जायें। वस्तुतः यह सब धोखा है, छलावा है। जो व्यक्ति अपनी संपत्ति का जितना अधिक दिखावा करता है, उस व्यक्ति के पास उतनी कम संपत्ति होती है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसके प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। जो अंतर में जितना असुरक्षित है, बाहर से उसको उतनी ही सुरक्षा की ज़रूरत है। जो अंदर से अनिद्रा में है, वहीं बाहर नींद की गोलियाँ बेच रहा है, चूँकि उसे ही नींद की गोलियों की जरूरत समझ में आती है।

दरअसल, हम जो भी कार्य कर रहे होते हैं – कोई संपत्ति इकट्ठा कर रहे हों, कोई शौक अपना रहे हों, यह हमारे अंतर की अयोग्यता का ही वाह्य प्रकटीकरण है। अगर हमारी आंतरिक संरचना ठीक हो, तो हमें किसी भी वाह्य वस्तु की ज़रूरत नहीं रह जाती। जिस व्यक्ति के अंतर

में सारे ब्रह्माण्ड की धन-संपत्ति विद्यमान है, वह भला बाहर धन-संपत्ति क्यों बटोरेगा? जिस व्यक्ति के दिल में सारे ब्रह्माण्ड की समझ भरी हो, उसे बाह्य पुस्तकीय ज्ञान या किसी पुस्तकालय की क्या ज़रूरत है? विवेक दिल में होना चाहिये, दिमाग में नहीं। बुद्धि का स्थान दिमाग में है, लेकिन समझ तो दिल में ही होनी चाहिये।

हम बुद्धि के सहारे अपनी यात्रा शुरू करते हैं, विवेक से आगे बढ़ते हैं, और योगाभ्यास से आत्मप्रेरणा द्वारा प्रगति करते हैं। फिर इस बात की संभावना बनती है कि हमारा अंतःसंचार सीधे ईश्वर से हो सके। लेकिन समस्या यह है कि हमारी यात्रा अपनी शुरुआत में ही बुद्धि के कारण भटक जाती है। हमें भटकाने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि हम *पी.एच.डी.* हैं, हमारी नौकरी अच्छी है, हम 6 लाख क्रोनर कमा लेते हैं, हमारे पास दो कारें हैं, इसका अहकंार हमारे अंदर में बैठ जाये। दरअसल, यह हमारी बुद्धिमानी नहीं है, यह तो हमारी धन-संपत्ति का दिखावा है। हमें चाहिये कि अपनी बुद्धि को हम विवेक की ओर अग्रसर करें और अपने अंदर ऐसी सामर्थ्य विकसित करें कि आत्मप्रेरणा से ही हमारे सारे वाह्य कार्यों का भी संपादन होने लगे। ईश्वर में हमारा सीधा संचार स्थापित हो जाये। और मेरी समझ में इसका केवल एक ही तरीका है - हम अपने अंतर में उतरें, क्योंकि संचार, संचारकर्ता और संचारग्राही, तीनों हृदय में विद्यमान हैं। ध्यान की अवस्था में हमारे माध्यम से हम और हमारा स्व, दोनों परस्पर संचारित होने लगते हैं।

यह बात हर व्यक्ति को समझना चाहिये कि ध्यान करना उसके लिये ज़रूरी क्यों है? यह हमें केवल मानसिक शांति नहीं प्रदान करता। यह तो ध्यान की मूर्खतापूर्ण परिभाषा है। इसके लिये तो वेलियम की एक गोली ही काफ़ी है। यह मुझे भलीभाँति सुला भी देगी और दूसरे दिन सबेरे इससे बेहतर अवस्था में हमें जगा भी देगी। हाँ, अगर इसकी लत लग जाये तो निश्चय ही यह हमारी मदद करना बंद कर देगी। कुछ लोग तो इसके लिये एक गिलास मदिरा, हशीश या फिर ऐसी ही वस्तुयें लेते हैं। वे कहेंगे : हम ध्यान क्यों करें? इसलिये चूँकि ध्यान ही एकमात्र रास्ता है जिसमें हमें

किसी बात की लत नहीं लग सकती। ऐसा नहीं है कि बाद में हमें ध्यान की ज़्यादा मात्रा की ज़रूरत पड़े। वस्तुतः यह कुछ ऐसी वस्तु है जो हमारे बाहर नहीं है, हमारे अंदर ही है। अगर यह बाहर होती, तो हो सकता है यह आज हमारे पास है, कल हमारे पास न भी हो।

सहज मार्ग पद्धति में तो हम कहते हैं कि अपने गुरुदेव को भी हमें अपने दिल में रखना चाहिये। बाहर गुरुदेव जिस रूप में हमें दिखते हैं, उन्होंने जन्म भी लिया है और उनकी मृत्यु भी निश्चत है। वह तो हर जगह हमारी तरह ही हैं। फिर रास्ता क्या है? उनको अपने हृदय में बसाना। *कैसे बसायें?* केवल एक ही रास्ता है। हम किसी को अपने हृदय में बसाकर कहें : मेरे हृदय! मेरे प्रेम! इस तरह वस्तुतः योग-मार्ग और कुछ नहीं बस प्रेम की राह है। ऐसा प्रेम जो भौतिकता, मानसिकता, बौद्धिकता, भावनात्मकता आदि से ज़्यादा उन्नत हो। योग-मार्ग द्वारा हम प्रेम की उस विशुद्ध अवस्था तक पहुँच सकते हैं जहाँ प्रेम, व्यक्ति में सीमित न होकर हृदय से हृदय की ओर संचरण करता है।

वस्तुतः योग-मार्ग कुछ और नहीं प्रेम का रास्ता है। बिना प्रेम दिये हम प्रेम नहीं पा सकते। मेरे लिये यह कुछ रहस्य की बात है, चूँकि आधुनिक जीवन में हम पाते हैं कि ज़्यादातर लोग आज प्रेमविहीन जीवन जी रहे हैं। आज सब लोग कहते हैं : मैं प्रेम करता हूँ, लेकिन मुझसे कोई प्रेम नहीं करता। यह सुनने के बाद स्वाभाविक रूप से प्रश्न करने की इच्छा होती है कि क्या वास्तव में हम किसी से प्रेम करते हैं? क्योंकि यह तो निश्चित है कि जब तक हम किसी से प्रेम न करें, हम प्रेम पा ही नहीं सकते। क्या हमे कोई केवल इसलिये प्रेम करे कि हम सुंदर हैं, धनवान हैं, हृष्ट-पुष्ट हैं या हम स्काइंग के निपुण खिलाड़ी हैं। अगर हम मान भी लें कि क्रिकेट के या टेनिस के खिलाड़ी को प्रेम मिलता है, उसके अनेकों महिला मित्र होती हैं, तो वहाँ यह भी देखने को मिलता है कि जैसे ही खिलाड़ी विम्बलडन में हारा, किसी प्रतियोगिता में हारा, उसकी नब्बे प्रतिशत महिला मित्र दूसरे पाले में चली जाती हैं।

इसलिये मैं इसे फिर एक बार दुहरा दूँ कि जब तक हम प्रेम करना नहीं सीखेंगे, प्रेम नहीं पा सकेंगे। प्रतिध्वनि सुनने के लिये हमें चिल्लाना पड़ता है। तब कहीं जाकर हमें यह गूँज सुनाई देती है। यह तो एक विधान है कि दो और लो। आज हम प्रेमविहीन जीवन इसलिये जी रहे हैं क्योंकि हमने अधिकांश मामलों में प्रेम करने की सामर्थ्य खो दी है। कहीं-कहीं तो हम प्रेम करने से डरने लगते हैं। लोग एक पत्नी को छोड़ दूसरी से शादी कर लेते हैं फिर भी पहली के बारे में सोचते रहते हैं, उसकी चिन्ता करते रहते हैं। उन अन्यायों पर मनन करते रहते हैं जो उन्होंने परस्पर एक-दूसरे के प्रति किये। माता-पिता और संतानों के बीच हमेशा कुछ न कुछ समस्यायें बनी रहती हैं। बच्चा प्रेम से कोई चीज़ लाया और माता-पिता ने उसे कोई महत्त्व नहीं दिया। इससे बच्चा अपने आपको ठुकराया हुआ और आहत महसूस करता है। यह ठुकराना उसको जीवन भर याद रहता है। माँ, बाप, बेटा, बेटी के बीच का रिश्ता खत्म होने लगता है। इसको फिर कैसे स्थापित किया जाये? पिता के पास प्यार से जाकर कहोः डैडी! *सॉरी*। वे प्रतीक्षा में हैं। उनकी आँखों से आँसू निकलने लगते हैं। आप प्रेम से उनसे लिपट जाते हैं और आगे का जीवन फिर सरल हो जाता है।

मेरे लिये तो यह आश्चर्य की बात है कि आज तक जितने भी लोग मुझसे मिले, उनमें से 90 प्रतिशत लोगों की समस्यायें उनकी अपनी संतानों से हैं, या संतानों को अपने माता या पिता से हैं। दम्पतियों के बीच समस्याओं का होना तो आम बात है। आख़िर ऐसा क्यों है? केवल इसलिये कि हम प्रेम करने में समर्थ नहीं हैं। हम किसी से भी पूरी तरह प्रेम कर ही नहीं पाते। किसी को हम अपना हृदय दे ही नहीं पाते। हर किसी को अपना अंश देते हैं। कोई सुंदरी अपनी सुन्दरता और यौवन देकर बदले में क्या पाती है? शायद कुछ क्षणों का या कुछ सालों का साहचर्य। सौंदर्य के साथ साहचर्य भी चला जाता है। धनी व्यक्ति दर्जनों साथी रख लेता है। अचानक वह व्यक्ति अपनी सारी संपत्ति गँवा देता है और सबेरे उसके पास कौड़ियाँ भी नहीं बचतीं। सब उसे छोडक़र चले जाते हैं। ज़िन्दगी के सफ़र में वह अकेला रह जाता है। आख़िर यह प्रेम कहाँ था – निश्चित ही उसके

पर्स में, उसकी धन-संपत्ति में। इसलिये अगर आप केवल अपनी सुन्दरता, धन-संपत्ति, यौवन, शक्ति या टेनिस खेलने की अच्छी सामर्थ्य का उपयोग कर रहे हैं, तो आप यह यक़ीन मानिये कि आपका भी यही हश्र होने वाला है। भौतिकता की सीमा यहीं तक है। प्रेम में भौतिक विनिमय का कोई स्थान नहीं होता। अगर हमने भौतिक विनिमय को प्रेम का आधार बना रखा है तो आरम्भ से ही हमारा जीवन अभिशापित हो जाता है। इसलिये प्रेम के लिये योग महत्त्वपूर्ण है।

आपको लग रहा होगा कि ये फिज़ूल की बातें मैं क्यों कर रहा हूँ? कहीं मैं विवाह परामर्शदाता तो नहीं हो गया हूँ? ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः जब तक आपका व्यक्तिगत जीवन खुशहाल, संतोषप्रद और स्थिर नहीं हो जाता, आपको भविष्य बनाने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हो सकता - ऐसा भविष्य जो हमारे परम लक्ष्य की ओर निर्देशित हो। अगर सारी ज़िन्दगी आप और आपकी पत्नी झगड़ा ही करते रहेंगे या आपकी संतानें आपसे झगड़ा ही करती रहेंगी तो फिर आप ध्यान कब करेंगे? ईश्वर जाने आपके मन में कभी ध्यान करने का विचार भी आ पायेगा या नहीं? आप कहेंगे : चारीजी! जाने भी दीजिये। आप भी मज़ाक कर रहे हैं। पहले मेरा परिवार तो व्यवस्थित हो जाये। आपकी बात तो ठीक है, लेकिन जब तक आप ध्यान नहीं करेंगे और आपके दिल में क्या छिपा है, इसे आप नहीं पहचान लेंगे, आप यह नहीं जान लेंगे कि केवल प्रेम ही ऐसी चीज़ है जो देने से निरंतर बढ़ती जाती है, जितना अधिक आप इसे दूसरों को दे पाते हैं उतना ही यह आपको मिलती है, इस तथ्य को जाने बिना, इसकी अनुभूति किये बिना भला आप और आपका परिवार कैसे व्यवस्थित हो सकते हैं?

मेरा तो मानना है कि सांसारिक जीवन के पहलुओं में भी योग उतना ही ज़रूरी है। हमें यह जानना चाहिये कि हृदय क्या है? क्या यह केवल धक-धक करने वाली कोई वस्तु है, जो मेरे शरीर में केवल कुछ लीटर खून का संचार करती है, या यह कोई ओर वस्तु है? क्या मानवता के इतिहास में लोगों का वर्णन यह कहकर किया जाना कि फलाँ कोमल हृदय है, फलाँ पाषाण हृदय है, भला प्रेमी हृदय है, केवल मज़ाक है? आख़िर हम किसी

व्यक्ति का वर्णन उसके हृदय के आधार पर क्यों करते हैं? वस्तुतः इस समय हम पसलियों के बीच में धड़कने वाले माँस के लोथड़े को हृदय नहीं समझ रहे होते हैं। फिर आख़िर यह हृदय क्या है? क्या शारीरिक संरचना में हम कहीं इसका स्थान निर्धारित कर सकते हैं? वस्तुतः कोई चिकित्सक इसके बारे में कुछ भी नहीं कह सकता। हाँ, हृदय की *बाइ-पास सर्ज़री* ये चिकित्सक लोग ज़रूर कर सकते हैं। मैं तो देखता हूँ कि आज अधिकांश लोग ऐसे हैं जिन्होंने स्वयं ही हृदय को *बाइ-पास* कर लिया है। उनका वास्तविक हृदय तो मर चुका है, उन्होंने एक *बाइ-पास* निकाल लिया है और उनका हृदय धड़क रहा है।

आज हमारे सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि हम इस वास्तविक हृदय को पुनर्जीवित कैसे करें? यह तभी संभव है जब हम इसको नवप्राणित करें, प्रमुखता दें, साहसी बनायें, अंदर से बात करने के लिये प्रोत्साहित करें। दिल वस्तुतः ऐसी चीज़ है जो कभी मेरी नहीं रही। देने की क्रिया तो एक नदी की भाँति है जो लगातार बहती रहती है। नदी जो निरंतर प्रवाहमान है, उसमें जल कहाँ से आता है? अगर आप जल के प्रवाह को एक बाँध बनाकर रोक दें, तो उसके अंदर कुछ भी प्रवाहित नहीं होगा। हवा का झोंका कमरे में लाने के लिये आपको खिड़की खोलनी पड़ती है। अब अगर आप कहने लगे : नहीं, नहीं यह तो मेरी हवा है। मैं इसे बाहर नहीं जाने दूँगा। जवाब आयेगा : ठीक है! मत जाने दो, यह ख़ुद बदबू करने लगेगी। इसी तरह हमारा दिल भी बदबू करता है। "यह मेरा दिल है, मैं इसे किसी को नहीं दूगाँ। मैं इसे बन्द करके ताला लगा दूँगा।" लेकिन तब यह सड़ने लगेगा, और जब यह सड़ने लगेगा तब क्या होगा? हम धीरे-धीरे मरने लगेंगे - मित्रविहीन, प्रेमविहीन, ईश्वरविहीन। पहले हम अपने मित्रों को खोते हैं, उसके बाद अपने प्रेमियों को खोते हैं, और ईश्वर! उसके बारे में तो हम जानते ही हैं कि सड़ी और बदबूदार जगह पर वह कभी नहीं रहता।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मानवीय प्रणाली में हृदय दिव्यता का स्थान है। सभी धर्मों ने यही घोषणा की है कि हृदय को हमें पवित्र ओर निर्मल रखना चाहिये। यहाँ मैं शारीरिक पवित्रता या विशुद्धता की बात नहीं

कर रहा हूँ – ये बातें तो शरीर से संबंधित हैं। मैं यहाँ दिल की असली विशुद्धता की बात कर रहा हूँ। हममें अपने हृदय के साथ अपने हृदय का उपयोग करते हुये कार्य करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। आख़िर इसे कैसे संभव बनाया जा सकता है ? क्या मैं मानवीय संबंधों में अपने हृदय को महत्त्व देता हूँ? मैं शंकालु हूँ या सब पर विश्वास करता हूँ? जब कोई मेरे पास आता है तो मैं उसके प्रति करुणा और सहानुभूति दिखाता हूँ या केवल यह कहकर टाल देता हूँ कि यह तो सबके साथ होता ही है। किसी अस्पताल में जाओ। जब कोई व्यक्ति मुझसे कुछ चाहता है तो क्या मैं उसे वह सब देने के लिये तैयार रहता हूँ या अपना बचाव करते हुये मैं उसे यह कह कर टाल देता हूँ कि अगर मैं सबको इसी तरह देने लगूँ तो कुछ ही दिनों में मेरी हालत ऐसी हो जायेगी कि मैं किसी को कुछ देने के काबिल बचूँगा ही नहीं। क्या मुझमें करुणा, दया, संवेदनशीलता और उससे भी अधिक समझदारी है? क्योंकि समझदार बने बिना मैं कुछ भी नहीं बन सकता। जब हम ख़ुद को ही नहीं समझ पाते तो फिर दूसरों को कैसे समझेंगे? ख़ुद को जानने वाला ही दूसरों को भी जान पाता है। जिसने स्वयं को नहीं जाना, वह दूसरों को कभी नहीं जान सकता।

अब सवाल यह है कि यह समझदारी हमारे अंदर कैसे विकसित हो? जवाब है : अपने हृदय को परख़ो। बैठो और ध्यान करो। आख़िर ध्यान में हम क्या करते हैं? ध्यान को हृदय पर केन्द्रित कर हम स्वयं को देखते हैं कि वहाँ कितने रहस्य अनावृत हो रहे हैं। जब एक बार हम इसे देख लेते हैं तो हमारे लिये यह संसार निरर्थक हो जाता है। ऐसा नहीं है कि हमें इस संसार से भागना पड़े, ब्रह्मचारी या तपस्वी बनना पड़े, फिर भी इस संसार का आकर्षण हमारे लिये नहीं रह जाता। हाँ, हम जीवन जीते रहते हैं क्योंकि जीवन तो हमें जीना ही है। ठीक वैसे ही जैसे वृक्ष जीते हैं। मैं नहीं समझता कि वृक्षों को अपने अस्तित्व में कोई आकर्षण दिखता होगा। उनके अस्तित्व में रहने का कारण केवल इतना है कि उन्हें अस्तित्व में रहना है।

ऐसी स्थिति में वस्तुतः हम वृक्षों की भाँति जीवनयापन करने लगते हैं। हमें एक निश्चित अवधि का जीवनकाल मिला है। विकासक्रम के हिसाब से भी जीवन को समाप्त करना ग़लत काम है, इसलिये हम अस्तित्व में हैं। हाँ, अब स्वयं के लिये हमारे अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं है। हम वृक्ष की तरह जीवन जी रहे हैं। हम एक फूल की भाँति जीवित हैं जो अपने आसपास अपनी सुगधं बिखेरता रहता है।

मेरी राय में तो गुरुदेव का अस्तित्व कभी भी उनके स्वयं के लिये होता ही नहीं, यह दूसरों के लिये ही होता है। उसे अपने ऊपर की गयी मेहनत का फल दूसरों को दे देना चाहिये। उन्हें इसके फल या फूल तोडने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये क्योंकि आध्यात्मिकता ऐसी चीज़ नहीं है जिसके लिये हमें भुगतान करना पड़े। दरअसल अध्यात्म में भुगतान करने का कोई विधान है ही नहीं। क्या हम कह सकते हैं कि कोई वृक्ष फल देता है? मेरी राय में कोई वृक्ष फल नहीं देता बल्कि वृक्ष फलों को उगाता है और हम उसे खाते हैं। किन्तु, चूँकि हम मानव हैं और मानवों के साथ हमें व्यवहार करना है, हम कहते हैं : लीजिये! यह सब यहाँ रखा हुआ है। आइये और ले जाइये।

मैं तो कहता हूँ कि आध्यात्मिकता की, और ख़ासकर सहज मार्ग नामक इस प्राकृतिक मार्ग की, यह पुकार है कि यह यहीं है। इसी के अनुसार हम अभ्यास करते हैं। कृपया इसे स्वीकार कीजिये और इसका अनुसरण कीजिये। अभ्यास कीजिये और स्वयं देखिये कि यह आपके लिये क्या कुछ नहीं कर सकता।

धन्यवाद!

8
सम्पूर्ण मावनता के लिये आश्रम

किशोरों की बात पर आता हूँ, हमें जीवन को नदी की तरह बनाना चाहिये। इस बात को मैंने इतनी बार कहा है कि मैं अब ख़ुद इससे उबने लगा हूँ। अगर जीवन एक नदी है तो नदी कभी युवती नहीं होती, न ही यह कभी अधेड़ होती है और न ही कभी वृद्ध। यह शुरू से अंत तक नदी ही बनी रहती है। हाँ, इसे भी कहीं से कहीं तक यात्रा तो तय करनी ही पड़ती है। कहीं बीच से यह शुरू नहीं हो सकती। इसीलिये लालाजी महाराज ने कहा कि आध्यात्मिक अभ्यास गर्भधारण के समय से ही शुरू होना चाहिये। जिस समय बच्चा माँ के गर्भ में प्रवेश करता है, वही आध्यात्मिक प्रशिक्षण शुरू करने का सबसे अच्छा समय होता है। इसलिये उसी समय उसे प्राणाहुति दी जानी चाहिये। इस बात पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि किशोरों को पहले ही बहुत देर हो चुकी है। आज हमारे पास 15 से 20 साल तक के किशोर हैं। गर्भधारण और जन्म के मध्य ही कम से कम 9 माह का अंतराल होता है। इसके बाद 20 साल का समय। इसका मतलब 20 साल 9 माह का समय बीत गया। प्रिय कस्तूरी : सोलह साल + 9 माह। यहाँ, यह भी एक हास्यास्पद धारणा है कि किशोर एक ख़ास किस्म के प्राणी होते हैं

डेनमार्क के अभ्यासियों के साथ बैठक में- व्रेड्स सैन (डेनमार्क)
11 सितम्बर 1992

इसलिये अगर वे बेवकूफ़ी का काम भी करें तो उनकी आलोचना नहीं की जानी चाहिये। चाहे वे जितना मूर्खतापूर्ण कार्य करें, उन्हें अनुशासित नहीं किया जाना चाहिये। वे लोग जंगली घोड़ों की तरह चारों ओर चाहे जितना दौड़ें, उन्हें नियंत्रित नहीं किया जाना चाहिये।

पश्चिम में इस प्रकार की कई भ्रान्त धारणायें हैं। अधिकांश महान संत अपनी किशोरवस्था में भी संत ही थे। जिन लोगों ने भी इन बातों पर ग़ौर किया होगा वे जानते होंगे कि 4, 6, 7, 8, 9, 11 साल के बच्चे भी संत हुये हैं। यह सच है कि अगर हम यह कार्य किशोरावस्था तक न कर पाये तो फिर 70 साल की अवस्था तक हमें प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्योंकि बीच का हमारा सारा जीवन बेवकूफ़ी में फँस जाता है। किशोरावस्था के बाद ही समस्यायें आनी शुरू होती हैं। प्राचीन परम्परा में बच्चा जब 7 साल का होता था तभी उसे आध्यात्मिक दीक्षा दे दी जाती थी। आध्यात्मिक परम्परा कहती है कि व्यक्ति जीवन के प्रपंचों में फँसे, उसके पहले ही उसे आध्यात्मिकता के रास्ते पर डाल देना चाहिये।

लेकिन यहाँ हम क्या करते हैं? अपनी मूर्खतापूर्ण सोच के कारण परिपक्व हो जाने का इंतजार करते हैं। फिर जीवन को कई अंशों में विभाजित करके उसके नष्ट होने तक उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। इस हालत में अगर हमे आध्यात्मिक यात्रा शुरू करनी है तो हमें पहले अपने जीवन के अनगिनत टुकड़ों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर जोड़ना होता है। सोचिये! यह कार्य कितना कठिन है। इसलिये किशोरों से मेरा निवेदन है कि अपने माता-पिता या अंग्रेजों की किशोरावस्था संबंधी धारणाओं में वे न फँसे। आख़िर किशोर होने में ऐसी क्या अद्भुत बात है? मेरी किशोरावस्था में तो जब कोई मुझे किशोर कहता था, मैं ख़ुद को अपमानित महसूस करता था। मैंने अकसर पाया है कि किशोर अपने माता-पिता से अधिक बुद्धिमान होते हैं। हर किशोर के लिये यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि कुछ मूर्ख किशोर-किशोरियाँ भी दिखती हैं। संभवत: उनमें से कुछ यहाँ भी उपस्थित हैं।

हर व्यक्ति जानता है कि 5-6 साल की उम्र के बाद वह बहुत कम सीख पाता है। जीवन में जिसे जो कुछ सीखना होता है, वह 12 साल की

आयु तक सीख लेता है – चाहे लड़का हो या लड़की। इसके बाद तो हम केवल तथ्यों का संग्रह करते हैं। *कार्बन डायोक्साईड* कैसे बनायी जाती है, गंधक का अणुभार क्या है, लॉस एंजलिस और कोपेनहेगेन के बीच कितनी दूरी है, सन् 1006 में इंग्लैंड को किसने जीता था, नॉर्मनों की विजय कब हुई थी – ये सब तथ्य हैं, ज्ञान नहीं। वस्तुत: आज की शिक्षा क्या है – केवल तथ्यों का संचय। इसलिये ताकि हमें जो कुछ भी करना है उसमें हमें इन तथ्यों की सहायता मिले। सच पूछा जाये तो यह काम किशोरावस्था में आने के पहले ख़त्म हो जाना चाहिये। किशोरावस्था तक तो हमे परिपक्व हो जाना चाहिये – केवल शारीरिक रूप से ही नहीं बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक रूप से भी। परिपक्वता लाने का यह कार्य अगर हम 7–8 साल की अवस्था में शुरू कर दें तो हमारा भावी जीवन समस्याविहीन हो सकता है।

एक बात तो बहुत स्पष्ट है कि भविष्य में किशोरों को उनकी किसी भी मूर्खता के लिये कतई माफ़ नहीं किया जाना चाहिये। उन्हें समझा–बुझा कर सुधारा जाना चाहिये। उन्हें बताया जाना चाहिये कि वे केवल किशोर नहीं हैं बल्कि एक ऐसी सभ्यता के घटक हैं जो 10,000 साल पुरानी है। मैं यहाँ डेनिश, नॉर्डिक, वाइकिंग सभ्यता की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं तो मानवीय सभ्यता की बात कर रहा हूँ। नृवंश–शास्त्रियों के अनुसार मानवीय सभ्यता 10,000 साल पुरानी है। यह आश्चर्य की बात है कि इतना समय बीत जाने के बाद भी हम समझदार नहीं हो पाये। हमें इस बात पर गर्व होना चाहिये कि विरासत में हमें इतनी समृद्ध सभ्यता मिली है। हम इसी सभ्यता के प्रतिफल हैं। हमारा यह कहना कि हमें भी शुरुआत से शुरू करना चाहिये, हास्यास्पद है। उन किशोरों को जिनके माता–पिता अभ्यासी या प्रशिक्षक हैं, वे तो ऐसे ही लाभ की स्थिति में हैं। अगर वे शुरू करते हैं तो उनकी तो बुनियाद ही ऊँचाई पर स्थित हैं। अगर हम शुरू ही नहीं करते तो यह हमारी मूर्खता है। हम एक ऐसा अवसर गवाँ रहें हैं जो फिर नहीं आने वाला।

किशोरों के लिये मैंने बहुत बातें कह दीं, अब कुछ डेनिश अभ्यासी दल के बारे में। बाबूजी इन्हें कितना प्यार करते थे, यह छिपा नहीं है।

यह दल पिछले 20 साल से मूर्छित अवस्था में है, जबकि हमारे पास यहाँ एक आश्रम भी है। यह यहाँ के अभ्यासियों की नहीं उनकी उपलब्धि है। इस मूर्छित दल के साथ, जिसे वे इतना प्यार करते थे, यह आश्रम आज वास्तविकता बन चुका है। इससे पता चलता है कि उन्होंने कितने अच्छे तरीके से बीजारोपण किया था। फिर आज यह कैसे संभव है कि मिट्टी से बदबू आने लगे। थॉमस को पता होगा कि जब मिट्टी गीली होती है और हम उसमें कोई बीज बोते हैं तो यह दुर्गंध देती है। इसमें तमाम छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़े भी भरे रहते हैं, फिर भी पौधे बढ़ते रहते हैं। कई बार ख़ास वस्तु के रूप में हमें सड़ी मिट्टी की भी ज़रूरत होती है। शायद उन्होंने कोई ख़ास चीज़ पैदा करने के ख़याल से इस तरह की मिट्टी की ज़रूरत समझी हो।

इसलिये हमें इस बात की ग्लानि नहीं होनी चाहिये। हमें ग्लानि अथवा हर्ष अनुभव करने का कोई अधिकार नहीं है। हम जैसे भी हैं वैसे ठीक हैं। वह जैसे भी चाहें हमारा उपयोग कर सकते हैं। उनका केवल एक लक्ष्य है : अपनी दिव्य योजना को सफलीभूत करना। इसके लिये यह कब और कौन सा उपकरण प्रयोग में लाते हैं, यह उनके सोचने का विषय है। हमें इस बात पर गर्व होना चाहिये कि हमने कुछ तो किया। कम से कम हमने दूसरी पीढ़ी को अपनी विरासत तो सौंपी। निश्चय ही यह पीढ़ी बेहतर काम करके दिखायेगी। यहाँ पुरानी पीढ़ियों के अभ्यासियों ने सन् 1971 या 1972 में अभ्यास शुरू किया था। उस समय आपमें से अधिकतर 40 साल और उससे ऊपर के होंगे। अब हम लोग अधेड़ हो चुके हैं। मैं बूढ़ा हो गया हूँ। अब नदी की कोई आयु तो होती नहीं। इसलिये हम कमजोरी का बहाना नहीं बना सकते। हम यह नहीं कह सकते : ओह, चारीजी! अब मैं 40 साल का हो गया हूँ। हाथ-पाँव में जंग लगने लगा है। हमें ऐसी कोई बात कहने का अधिकार नहीं है। अगर मैं ऐसा 65 साल की उम्र में नहीं कह सकता तो आप 40 साल की उम्र में ऐसा कैसे कह सकते हैं? बाबूजी ने तो यह बात 83 साल की उम्र में भी नहीं कही। हमें अभी

बहुत लम्बा रास्ता तय करना है। इसलिये हम, न तो थकने की शिकायत कर सकते हैं और न ही उबने की।

जब बूढ़ों के पास कोई बहाना नहीं है तो भला छोटों, किशोरों या अधेड़ों के पास कोई बहाना कैसे हो सकता है। हमें यह तय करना है कि भविष्य में हम क्या करेंगे। यह डेनिश आश्रम नहीं है, यह तो मिशन का आश्रम है, और मिशन संपूर्ण मानवता के लिये है। अब हमारा काम यह है कि हम इस आश्रम को इतना अद्‌भुत बना दें कि हर जगह से लोग यहाँ आयें। जैसा बाबूजी ने कहा भी है : जब शमाँ जलती है तो परवाने वहाँ आते ही हैं। शमाँ जल रही है। कृपा करके इस जलाये रखिये। इसे बुझने मत दीजिये। सावधान रहिये! ज़रूरत पड़ने पर इसमें तेल डालिये, बत्ती संवारिये, और तूफान आये तो इस पर काँच की चिमनी रखकर इसे बुझने से बचाइये। शमाँ को, दीपक को सुरक्षित रखना अब आपका दायित्व है।

लोककथा में मैंने सुना है : एक लड़का था। वह पाठशाला जाता था। जब उसको पाठशाला से लौटने में देर हो जाती थी, सर्दियों में वैसे भी शाम को 4 बजे के बाद ही अँधेरा होने लगता है, उसके घर वाले खिड़की में एक दिया जलाकर रख देते थे ताकि उनका पुत्र उसकी रोशनी देखकर अनुमान लगा सके कि यही उसका घर है। आज हमारा काम भी इतना ही है : इस दीपक को शाश्वत रूप से जलाये रखना जिसे देखकर संपूर्ण मानवता यहाँ आ सके। उसे बुलाना न पड़े। वे स्वयं ही आयें। वस्तुतः बोलकर दिया गया निमंत्रण दिमाग से आता है जबकि आध्यात्मिक निमंत्रण दिल से आता है। वैसे ही दिव्यता का निमंत्रण किसी विलक्षण उपस्थिति से मिलता है। उस उपस्थिति को हमें अपने यहाँ बनाये रखना है। किसी ने कहा भी था कि वे यहाँ रहें या न रहें लेकिन हमें हमेशा उनकी अपस्थिति का एहसास यहाँ होता रहता है। वस्तुतः वे किसी स्थान से अनुपस्थित रह ही नहीं सकते। हम ख़ुद पर ही अगर ग़ौर करें तो पायेंगे कि हम शरीर के साथ कहीं और रहते हैं, जबकि वैसे कहीं और।

उदाहरण के तौर पर यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जो यहाँ हो, लेकिन जिसका मन कोपेनहेसगेन में हो। वह कह सकता है : अरे, चारीजी महाराज जल्दी भाषण खत्म नहीं कर रहे हैं। मुझे जाना है। चूँकि उनका मन यहाँ नहीं है। वस्तुत: ऐसे लोग मालिकों के मालिक हैं जिनका शरीर कहीं भी रहे, मन हर जगह विद्यमान है। बाबूजी ने कहा : अगर किसी के पास वास्तव में आँख हैं तो वह यह देख सकता है कि कोई विभूति संपूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है; यहाँ-वहाँ नहीं, बल्कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड में। आप कहीं भी जायें, वह वहाँ होगा। ऐसा मत समझिये कि उसकी उपस्थिति किसी बात की गारण्टी है। यह तो प्राकृतिक है, अनिवार्य है, परम है और इसीलिये स्थायी भी है।

इससे यह समझने की ज़रूरत नहीं है कि सभी प्राकृतिक वस्तुयें स्थायी होती हैं। आज जो फूल खिले हैं, कल नहीं रहेंगे लेकिन यह दिव्य उपस्थिति हमेशा-हमेशा के लिये होती है। यह उपस्थिति हर जगह से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है और जो आध्यात्मिक आनन्द यहाँ विद्यमान है, उसमें सबको सहभागी बनाती है। उत्तरोत्तर हम इस उपस्थिति के साथ सहभागी रहते हुये उसी की तरह बनते जायें - यहीं हमारा कार्य है।

एक शहंशाह था जो कलाप्रेमी था। हो सकता है कि यह कहानी मैंने आपको पहले भी कभी सुनाई हो। शहंशाह एक कला प्रतियोगिता का आयोजन करना चाहता था। उसने सारी दुनिया के कलाकारों को निमंत्रित किया। फिर उसने अपने प्रधानमंत्री को आदेश दिया : सबको एक-एक बड़ा आगार दो और उनसे कहो कि वे अपनी कला से अपने आगारों की दीवारों का श्रृंगार करें। बाद में हम आकर उनकी कला का निरीक्षण करेंगे और उन्हें इनाम देंगे। संसार भर से कलाकार आये। सबको एक-एक आगार दिया गया। सभी कलाकार चित्रकारी में जुट गये। बड़े ब्रश, छोटे ब्रश, तेल के रंग, पानी के रंग, खड़िया के रंग, सब प्रयोग में आने लगे। चीन के दल ने पर्दे का सहारा लेकर उस आगार के दो भाग कर लिये, चूँकि आगार के दूसरी तरफ पहले से ही कोई कार्यरत् था। उन्होंने संयोजकों से कहा : हमें केवल आप रेगमाल पत्थर उपलब्ध करा दीजिये। सभी बड़े

अचम्भित हुये कि वे इसका क्या करेंगे? चीनियों ने कहा : हम अपनी कार्यशाला तभी खोलेंगे जब अंतिम दिन शहंशाह इसके निरिक्षण के लिये आयेंगे। सामने की दीवार पर उन्होंने अत्यंत सुंदर कलाकृति का निर्माण किया, ऐसा लग रहा था मानो प्रकृति ने अपना कलेवन खोल कर रख दिया हो। तरह-तरह के पक्षी, रंग-बिरंगे प्राकृतिक दृश्य - क्या कला थी। अन्तिम दिन शहंशाह का आगमन हुआ। शहंशाह हर आगार में गये। हर अगली कृति पहले के मुक़ाबले बीस दिख रही थी। अन्तिम कलाकृति इतनी सुंदर थी कि शहंशाह के होश उड़ गये। वे कलाकार को इनाम देने ही वाले थे कि प्रधानमंत्री ने कहा : आलमपनाह! अभी आपको एक कलाकृति और देखनी है। शहंशाह बोले : ठीक है, दिखाओ। चीनियों ने अपनी कलाकृति पर से पर्दा उठाया। शहंशाह ने कभी कोई ऐसी कलाकृति नहीं देखी थी। यह देखकर वह सचमुच मूर्छित हो गये। होश आने पर उन्होंने आदेश दिया कि चीनी लोगों को इनाम दिया जाये। शहंशाह ने पूछा : भाई! तुम लोगों ने कलाकृति कैसे बनायी? हमें भी बताओं। चीनियों ने कहा : महाराज! हमने तो कुछ किया ही नहीं। हमने केवल दीवार को इतनी सुंदरता के साथ चमका दिया, ताकि उसमें सामने वाली दीवार पर बनी कलाकृति प्रतिबिम्बित होने लगे। आध्यात्मिकता का यही संदेश है : अपनी दीवार को इतनी सुंदरता के साथ चमकाओ कि उसमें दिव्यता प्रतिबिम्बित होने लगे। इसके अलावा हमें और कुछ नहीं करना है। हमें अपनी कोई नयी रचना नहीं करनी है।

यह बच्चे को पैदा करने जैसी बात नहीं है। अभी तक तो मुझसे किसी किशोर ने भी यह प्रश्न नहीं पूछा। सब इसे जानते हैं। लेकिन आप देखिये कि अध्यात्म का रास्ता कितना सरल है। हमें अपने हृदय को आइने की तरह चमका देना है, फिर सारा जगत उसमें अपने आप ही दिखने लगेगा। इस तरह अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि अध्यात्म में हमें कुछ करना ही नहीं है। केवल सफाई करनी है। आख़िर हम अपने स्टील के बर्तनों की, काँच के बर्तनों की सफाई तो करते ही हैं। यही सफाई हमें अपने अंतर की करनी है। फिर जो भी वस्तु बाहर है, वह अपने आप ही

अंदर दिखेगी। आज हमें स्व विकास का एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है। सारे संसार की सहायता करने का एक अनुपम अवसर हमें मिला है। इस अवसर का लाभ उठाकर सारा संसार इस विकास की दौड़ में हिस्सा ले सकता है। मैं कामना करता हूँ कि आप सभी को इस कार्य को करने में आनन्द की अनुभूति हो।

धन्यवाद!

9
मेरे मालिक, मेरा मिशन, मेरी पद्धति

मेरे पास कहने के लिये तो कई बातें हैं, लेकिन मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं शुरू कहाँ से करूँ। बहुत समय पहले बाबूजी द्वारा कही गयी एक बात मुझे याद आ रही है। वे कहा करते थे कि अकसर अनकही बातें, कही गयी बातों से कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होती हैं। यहाँ प्रश्न केवल इतना है कि हम अनकही बातों और कही गयी बातों में संतुलन कैसे स्थापित करें। मैं अभी तक इस कला में दक्ष नहीं हो पाया हूँ इसलिये आज भी मुझे सभी बातें बोलकर बतानी पड़ती हैं। शायद मेरी जिन्दगी में भी कभी ऐसा समय आये जब मैं किसी को बिना कुछ कहे कोई चीज़ बता पाऊँ। किसी ने मुझसे पूछा : अब तो हमारा आश्रम बन गया है। अब हमें क्या करना चाहिये? मैंने सोचा : अब इसमें सोचने की क्या बात है? जब हम कोई घर बनाते हैं, तो क्या करते हैं? उसमें रहते हैं। इसी प्रकार जब हमने आश्रम बना लिया है तो हमारा अधिकाधिक प्रयास इस बात की ओर होना चाहिये कि हम आश्रम में रहें। आश्रम घर से अधिक कुछ नहीं है। यहाँ हम अपने आंतरिक विकासक्रम एवं प्रगति को बनाये रखने के सिद्धान्तों के अनुरूप रहने का प्रयास करते हैं। लोग अकसर आश्रम को एक ऐसा रहस्यमय स्थान समझने की कोशिश करते हैं जहाँ हँसना-मुस्कुराना, खाना-पीना

दोपहर बाद की वार्ता- व्रेड्स सैन (डेनमार्क) 12 सितम्बर 1992

सब निषिद्ध हो। केवल ठंडी-ठंडी दीवारें, ठंडे-ठंडे फर्श और खुरदुरे कंबल हों। अब भाई! ये सब बातें तो रुढ़िवादियों के साथ चली गयीं। यहाँ हम न तो दुःख भोगने आते हैं और न ही मौज-मस्ती करने। हम तो यहाँ उपलब्ध परिस्थितियों के अंतर्गत ठीक से रहना सीखने आते हैं।

आप लोगों ने देखा होगा कि बाबूजी महाराज गद्दों पर सोकर, कम्बल ओढ़कर, सुतापित कमरों में रहकर, इतना ही नहीं मशरूम का सूप पीकर भी अत्यंत सुविधापूर्वक रह लेते थे। सन्यास और शरीर को प्रताड़ित करने का नाम आध्यात्मिकता नहीं है। यह तो मानव मन की विकृति है जो वह यह सोचता है कि ईश्वर तक पहुँचने के लिये यह ज़रूरी है कि वह दुःख भोगे। इसका मतलब यह भी नहीं है कि हम यह सोचें कि ईश्वर तक पहुँचने के लिये सुखों का होना ज़रूरी है। जीवन में स्वतंत्रता का मतलब यह नहीं है कि हम असंयमित सुखों का भोग करें। वस्तुतः यह तो गुलामी का जीवन है जिसमें हम अपनी आदतों, व्यसनों, जीवनयापन के तौर-तरीकों की बेड़ियों को भी नहीं तोड़ पाते। कोई व्यक्ति, जो शराब पीता है और रोज़ इसे पीकर नशे में धुत्त हो जाता है, स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। उसके लिये तो यही कहा जायेगा कि वह शराब का गुलाम है। बाबूजी महाराज से अक़सर मैं मज़ाक करते हुए कहता था : मैं भी अपनी अच्छी आदतों का दास हूँ। रोज सवेरे 5 बजे उठ जाता हूँ। जब तक बीमार न हो जाऊँ, 7 बजे तक कभी बिस्तर पर नहीं पड़ा रह सकता। हर आदमी अपनी आदतों का गुलाम है - कोई अच्छी आदतों का, तो कोई बुरी आदतों का। आदत का मतलब ही गुलामी होता है।

बाबूजी को केवल एक ही आदत थी - हुक्का पीने की आदत। इस आदत को वे, न तो अच्छी आदत कहते थे न ही बुरी आदत। बस उनकी यह एक आदत थी। जब आदतें हमें अपना गुलाम ही बनाती है तो अच्छी आदत हो या बुरी आदत, हम तो गुलाम ही रहे। फिर इसमें अच्छा क्या है? सन्यास भी इसी प्रकार की एक आदत है। फिर हम किसी आदत के गुलाम क्यों बनें? एक समस्या यह भी है कि हम हमेशा किसी न किसी संदर्भ की याद कर इसके बारे में सोचते रहते हैं। हठयोग, लययोग,

सहज मार्ग, ब्राह्मणों का जीवन, तमाम चीज़ों के बारे में हम मनन करते रहते हैं। उन संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में ख़ुद को रखकर फिर उसी तरह का जीवन जीने का प्रयास भी करते हैं।

इस संदर्भ में सहज मार्ग का कहना है कि हमें एक संतुलित और विवेकपूर्ण जीवन जीना चाहिये। सहज मार्ग हमसे कभी भी इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि हम एक यूरोपियन की तरह या एक भारतीय की तरह रहें। यह तो हमसे केवल सहज, सरल और समरस जीवन जीने की अपेक्षा करता है। प्रकृति सबके लिये समान है और सरलता भी सभी के लिये समान है। सरलता का अर्थ भी कभी-कभी हम दु:ख भोगने से लगाने लगते हैं। अगर हम कहें कि हमें तो सरल जीवन जीना है इसलिये हमें बाहर जाकर किसी चट्टान पर सोना चाहिये, तो मेरी राय में यह मूर्खता है, सरलता नहीं। अब सरलता का यह भी अर्थ नहीं है कि हम भोग की तमाम वस्तुओं का संग्रह करते जायें। सरलता का अर्थ है : अपनी ज़रूरतों को कम से कम कर लेना। जटिल जीवन वह जीवन है जिसमें हमें नाना प्रकार की चीज़ों की ज़रूरत बनी रहती है। सरल जीवन में हमें बाहर की ज़्यादातर वस्तुओं की ज़रूरत महसूस नहीं होती। सहज मार्ग कहता है कि हमें अपनी सोच, अपनी मानसिकता, यहाँ तक कि अपनी साधना पद्धति में भी सरल बनने का प्रयास करना चाहिये। यह हर व्यक्ति की कमजोरी है कि उसके अंदर चीज़ों को जटिल बना देने की प्रवृति होती है। उसे किसी भी सरल वस्तु की अपेक्षा जटिल वस्तु अधिक भव्य प्रतीत होती है।

कोई भी शक्तिशाली यंत्र जो अत्यंत जटिल हो, आधुनिक समाज की प्रगति का प्रतीक माना जाता है। ज़मीन पर पड़े पत्थर को क्रेन से उठाना आज प्रगति की निशानी मानी जाती है। मैं सिल्कबोर्ग में फुटपाथ का निर्माण होते हुये देख रहा था। पहले कुछ मशीनें आयीं और वहाँ रेत बिछा गयीं। फिर दूसरी मशीनें आयीं, जिन्होंने उसे समतल किया। इस कार्य में एक सप्ताह लगा। फिर एक क्रेन आई जिसने सुंदर कटे, तराशे हुये पत्थर वहाँ लाकर रखे। पत्थर सुंदरता के साथ एक-दूसरे के साथ बँधें हुये थे। फिर एक क्रेन ने इन खूबसूरत बँधे हुये पत्थरों को बड़ी कुशलता के

साथ बिछाना शुरू किया। यही फुटपाथ अगर भारत में बन रहा होता तो इसमें अधिक से अधिक तीन दिन का समय लगता। लेकिन यहाँ इतनी बड़ी–बड़ी मशीनों ने काम किया और तीन सप्ताह लग गये। फिर तकनीकी मेधावीपन का अंतिम प्रमाण सामने आया – एक क्रेन आयी जिसके लीवर में फर्श रगड़ने वाली मशीन लगी थी। इसने फ़र्श पर जमाये गये पत्थरों को घिसकर उसकी सतह को चिकना बना दिया। मेरी राय में तो यह बेवकूफ़ी ही है।

आप लोग यह मत समझिये कि मैं यहाँ पश्चिमी समाज की आलोचना करने आया हूँ। यह आलोचना विज्ञान और तकनीकी की भी नहीं है। आलोचना है विज्ञान और तकनीकी के दुरुपयोग की। आख़िर किस सीमा तक हम इसका दुरुपयोग करेंगे? इसके बाद हम बात करते हैं बेरोजगारी की। हम कहते हैं बेरोजगारी बढ़ रही है। अगर हमने इस कार्य के लिये 30 भारतीय श्रमिक लगा दिये होते जो औसतन 15 रूपये रोज़ लेते, तो 3 दिन में 450 रूपये रोज़ के हिसाब से 1350 रूपये में यह फुटपाथ का कार्य आराम से हो गया होता। मुझे अनुमान है कि आप लोगों ने इसी कार्य के लिये कम से कम तीन लाख क्रोनर खर्च कर दिये होंगे। वस्तुतः यही जटिलता है। इसे सरलता नहीं कहा जा सकता। आप कहेंगे : नहीं, नहीं, चारीजी! मशीनों से काम करना बहुत आसान है। मैं आपकी इस बात से पूरी तरह असहमत हूँ।

देखिये! आज हम कितने विवेकशून्य हो गये हैं। मुझसे एक अभ्यासी ने पूछा : उन लोगों का क्या होगा जिन्होंने कृत्रिम हृदय का प्रत्यारोपण करा रखा है या जो भविष्य में कृत्रिम हृदय का प्रत्यारोपण करने वाले हैं? यह सच्चे मन से पूछा गया प्रश्न था, जिससे संदेह झलक रहा था। इस प्रश्न में सीधा यह दिखता है कि हम सहज मार्ग की मर्यादाओं के बाहर सोच रहे हैं। सहज मार्ग कहता है : तुम्हारे अंदर एक हृदय है। ऐसी संकल्पना के साथ ध्यान करो कि वहाँ दिव्य प्रकाश विद्यमान है। अब हृदय चाहे जैसा भी हो, इससे क्या मतलब? यह रबर का भी हो सकता है। क्या जिन लोगों को रबर की नलियाँ लगायी गयी हैं, वे भोजन नहीं करते या भोजन उन्हें

नहीं पचता? दुर्भाग्य से, अगर हमारी टाँग कट जाये तो क्या हम नकली टाँग लगाकर नहीं चलेंगे? हाथ कट जाये तो नकली हाथ लगाकर काम नहीं करेंगे? हम तब तक इसी तरह काम करते रहेंगे जब तक हमारा पूरा शरीर ही मशीन में न बदल जाये। अब आपका प्रश्न होगा : तो क्या रोबोट ध्यान कर सकता है? मेरी राय में ऐसा समय कभी नहीं आयेगा जब रोबोट यह प्रश्न कर पाये।

फिर मैं उसी प्रश्न पर आता हूँ कि आश्रम का हम क्या करें? इसमें आराम से, आनन्दपूर्वक और समरसता के साथ रहिये। हाँ, यह बात ज़रूर ध्यान में रखिये कि यह आश्रम किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, सबका है। कोई भी वस्तु जब किसी व्यक्ति की हो जाती है तो फिर यह औरों की नहीं रह जाती। लेकिन अगर कोई वस्तु किसी के स्वामित्व में नहीं होती तो फिर वह सबकी हो जाती है। हिन्दू दर्शन में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि जिसके पास कुछ नहीं होता, उसके पास सब कुछ होता है। क्योंकि अगर आपके पास कुछ है, तो फिर आप केवल उस कुछ के मालिक बन कर ही रह जाते हैं। जैसे ही आपके अंदर यह विचार उठा कि यह घर आपका है, आप यह मानकर चलिये कि अब दूसरे घरों में आपका जाना निषिद्ध हो जायेगा।

मुझे यह बात यहाँ बहुत पसंद आयी कि अपनी ज़मीन के चारों ओर बाड़ लगाना यहाँ कानूनन निषिद्ध है। जब मैं अपने घर की ऊपरी मंजिल पर खड़ा होता हूँ और चारों ओर देखता हूँ या पिछली खिड़की से बाहर झाँकता हूँ तो जेटलैंण्ड का एक तिहाई हिस्सा या जो कुछ भी मैं देख पाता हूँ, सब मुझे अपना लगता है। अगर यहाँ बाड़ लगी होती, तो चाहे यह कितनी भी सुंदरता से पुती होती, सीमा तो दिखती ही। फिर हम सोचते कि बगल की भूमि कितनी अच्छी है, काश! इसे भी खरीद लेते। टॉलस्टॉय की कहानी की तरह, जिसमें एक व्यक्ति को इस बात की स्वतंत्रता दी जाती है कि वह सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक जितनी भी भूमि घेर सके, वह उसकी हो जायेगी। वह सुबह से शाम तक लालच में इधर-उधर दौड़ता रहता है और अंत में सूर्यास्त तक अपने मुक़ाम तक पहुँचने के पहले ही थककर चूर होकर गिर पड़ता है और मर जाता है।

शैतान व्यंग करता है : इस व्यक्ति को बस इतनी ही भूमि की ज़रूरत है- 6‘/3‘- उसे गढ़्ढा खोद कर उसमें दफ़ना दिया जाता है।

इस बात पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि स्वामित्व तो हमारा केवल 6‘/3‘ पर ही है। इतनी ही भूमि के लिये हम अधिकृत हैं। स्वामित्व का भाव हमेंशा हमें सीमित विचारों, कर्मों और जीवन पद्धतियों में जकड़ देता है। इसलिये हमारी कोशिश हमेशा यही होनी चाहिये कि हम इस स्वामित्व के भाव से छुटकारा पायें। यह सोचना कि डेनमार्क केवल यहाँ के वाशिंदों के लिये, फ्रांस केवल फ्रांसिसियों के लिये या जर्मनी केवल जर्मनवासियों के लिये है, हमारी विवेकशून्यता का ही परिचय देता है।

हमें यह याद रखना चाहिये कि ये सब सीमायें हमने ख़ुद ही बनायी हैं। ईश्वर ने डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी नहीं बनाये। उसने तो एक सृष्टि की रचना की, आदमी बसाये और कहा : आगे बढ़ो और वृद्धि करो। अगर आप ईसाई परम्परा में विश्वास करें तो भी यही बात सामने आती है कि ईश्वर ने कहा : आगे बढ़ो और वृद्धि करो। यहाँ यह बात ग़ौर करने की है कि वृद्धि किसकी? उत्तर है – ख़ुद की। वृद्धि करने का यह आशय नहीं है कि आप अंधाधुंध बच्चे पैदा कर डालें। 28–28 बच्चे पैदा कर डालें। वह स्व, जो मेरे अंदर है, हमें उसकी वृद्धि करनी है। *आगे बढ़ो और वृद्धि करो* का तात्पर्य यही है कि आप एक स्थान पर रुककर प्रगति नहीं कर सकते।

आध्यात्मिक परम्परा तो परिवाज़कों की परम्परा है; जिसने आध्यात्मिक जीवन अपना लिया, जो उन्नति करना चाहता है, वह एक स्थान पर रुक ही नहीं सकता। अगर वह कहीं रुका तो निश्चित रूप से मान लीजिये कि उसे उस स्थान से आसक्ति हो जायेगी। हमारे यहाँ सन्यासियों के लिये यह विधान है कि वे एक स्थान पर 3 दिन से ज़्यादा न रुकें। वे जहाँ कहीं भी रुकते है, वहाँ नवयुवक उनके लिये भोज्य सामग्री का प्रबंध करते हैं, तरुण बालायें भोजन बनाती हैं और युवतियाँ गाना गा–गाकर उन्हें खाना खिलाती हैं। सन्यासी सोचता है : वाह! यहाँ तो बड़ा आनन्द है। यहीं क्यों न रुक लिया जाये? अगर लालच में फँसे तो यक़ीन मानिये कि वहीं उनका किसी लड़की से प्रेम हो जाता है और सन्यास समाप्त हो

जाता है। इसीलिये सन्यासी को एक स्थान पर 3 दिन से अधिक रुकने की इजाज़त नहीं दी गयी है। इसके पीछे यह तर्क नहीं है कि कोई स्थान बुरा है या अच्छा है, तर्क केवल इतना है कि रुकने पर किसी स्थान, व्यक्ति या वस्तु से आसक्ति पैदा हो जाने का ख़तरा है, जो उनके विकास की संभावना को मटियामेट करने के लिये काफ़ी है। इसीलिये हमसे भी अपेक्षा की जाती है कि हम स्थानों का उपयोग करें, लेकिन उन पर आसक्त न हों; जैसे हम इस आश्रम का उपयोग कर रहे हैं। उपयोग करना तो बहुत अच्छा है लेकिन अगर आश्रम से आसक्ति पैदा हो गयी, तो यह ठीक नहीं है। अगर कोई यह समझने की भूल कर बैठे कि आश्रम में ही वह अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है, तो यह ग़लत है। अगर कोई यह सोचे कि बिना आश्रम जाये घर पर बैठकर भी आध्यात्मिक प्रगति पायी जा सकती है, तो यह भी ग़लती है। हर चीज़ उचित स्थान और उचित तरीके से, उचित समय पर होनी चाहिये। हाँ, एक समय आता है जब हमें आश्रम जाने की ज़रूरत महसूस होती है – संसार से दूर रहने के लिये। उसके लिये जो संसार का रहते हुये भी संसार का नहीं है।

हमें अति धार्मिक, अति नैतिक, अति आत्मसंयमी बनने से रोकने के लिये भी एक समय आता है जब हमें अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिये इस संसार-सागर में उतरना होता है। इसी समय हम इस संसार और इसकी अतिसुंदर रचना की वास्तविकता का दर्शन करते हैं। यहाँ की संभावनायें और उपलब्धियाँ भिन्न किस्म की हैं। अब हम इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि बिना कच्चे माल के कोई उत्पादन नहीं हो सकता। कच्चा माल अगर अच्छा नहीं है तो उत्पादन पर भी असर पड़ सकता है। इसे कच्चा माल केवल इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह अभी तैयार नहीं है। इसलिये दूसरों की निंदा या आलोचना करना कि फलाँ अभ्यासी नहीं है, फलाँ गंदा आदमी है, उचित नहीं है। आख़िर आप उससे बेहतर कैसे हैं? और अगर आप बेहतर हैं तो आप बेहतर बने कैसे? उसकी कृपा से ही तो। और उसकी कृपा से तो हर व्यक्ति कुलीन, श्रेष्ठ और दिव्य बन सकता है। वस्तुतः दिव्यता का साक्षात्कार ही किसी अभ्यासी को

सच्चा अभ्यासी बना सकता है। अक़सर अभ्यासियों में मैं पाता हूँ कि वे दल बनाकर एक अंतवृत्त बना लेते हैं। धर्माभिमानी व्यक्तियों का एक दायरा बन जाता है और वे आपस में ही एक-दूसरे की पीठ थपथपाते रहते हैं और कहते हैं कि देखो! सच्चे अभ्यासी तो हम लोग हैं। हम दूसरे लोगों जैसे थोड़े हैं। हम तो चतुर सुजान हैं। आध्यात्मिक लोग हैं।

जब भी मैं इस तरह की बात सुनता हूँ तो मुझे *जंगल बुक* पुस्तक के बंदरों की कहानी याद आ जाती है जो इसी प्रकार इकट्ठे होकर एक-दूसरे को चतुर सुजान बताया करते थे। किसी बात पर अगर कोई बहस छिड़ी तो वे कहेंगे : ऐसा इसलिये होना चाहिये क्योंकि वे ऐसा कह रहे हैं। यह बंदरों के समाज में बार-बार दुहराया जाने वाला अंतरा है - चूँकि हम लोग ऐसा कहते हैं इसलिये सत्य यही है।

वस्तुतः आध्यात्मिक संगठन में लोकतांत्रिक सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं होता। हम, दूसरों से केवल इसलिये बेहतर नहीं हो सकते कि हम एकजुट हैं। हमें अपनी बेहतरी की घोषणा करने की बजाय अपने अंदर बेहतर सहनशीलता, बेहतर प्रेम, मानवीय कमजोरियों को स्वीकार करने की बेहतर सामर्थ्य पैदा करने की कोशिश करनी चाहिये। अगर ज़रूरत हो तो हमें करुणा और दया का प्रदर्शन भी करना चाहिये। मैंने बाइबिल में पढ़ा था, स्वामी कहता है : प्रतिशोध लेना मेरा काम है। मैं अक़सर सोचा करता हूँ कि ईश्वर ऐसा क्यों कहता है कि प्रतिशोध लेना मेरा काम है। हमें तो अपने हृदय में किसी के प्रति प्रतिशोध रखने का अधिकार ही नहीं है। प्रतिशोध तो वही ले सकता है, वही दण्ड दे सकता है और वही पुनर्रचना भी कर सकता है। वह मार सकता है और मारे हुये को फिर से प्राणदान भी कर सकता है। जबकि हम केवल विनाश कर सकते हैं। हम जीवनदान नहीं कर सकते। अगर हम किसी को मार दें तो फिर वह हमेशा के लिये मर जायेगा। हम उसे *उठो थॉमस* कहकर जीवित नहीं कर सकते। हमारे द्वारा मारा गया थॉमस जीवित नहीं हो सकता।

मेरी राय में तो जिसमें फिर से जीवन देने की सामर्थ्य है, उसके लिये जीवन या मृत्यु, किसी भी चीज़ का कोई मतलब नहीं है। चूँकि वह

कभी किसी को मारता नहीं, वह तो परिवर्तन का वाहक है। वह जीवन को दूसरे रूप में परिवर्तित करने की सामर्थ्य रखता है। वह किसी प्रकार के कच्चे माल से किसी प्रकार का उत्पाद तैयार कर सकता है। इस बात पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि मृत्यु हमारे जीवन का पुनर्नवीकरण कर इसे और अधिक सकारात्मक, उत्पादक एवं विकासात्मक बनाने का एक अवसर मात्र है। मृत्यु, जीवन का अंत या इस जीवन पर पूर्ण विराम नहीं है। पश्चिम के लोग इस बात से बराबर भयभीत रहा करते हैं। उन्हें लगता है कि मृत्यु के बाद उनका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। यही शून्यवाद है। अगर मैं यहाँ उपस्थित नहीं हूँ तो यह जीवन किस काम का? लेकिन यह आपसे कहा किसने कि आप यहाँ दुबारा नहीं आयेंगे? जैसे हर दिन हमारे सामने एक नया अवसर लेकर उपस्थित होता है, वैसे ही हर जन्म या जीवन भी हमारे लिये एक नया अवसर लेकर आता है।

हाँ, जो व्यक्ति इस जीवन से उब जाता है। जो अपने जीवन में अवसरों का समुचित उपयोग न करके जीवन में हताशा भर लेता है, वह जल्दी ही मृत्यु की कामना करने लगता है। वह प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर! तुम जल्द मेरे जीवन का अंत करो जिससे मैं शीघ्रतापूर्वक नया जीवन आरम्भ कर सकूँ। मैं मूर्खता और अज्ञानता में 60 साल तक प्रतीक्षा क्यों करूँ? इसलिये मेरे स्वामी! मेरे जीवन का तिरोधाम करें जिससे मैं शीघ्र ही नया जीवन आरम्भ कर सकूँ। फिर पता नहीं क्यों हम दीर्घ जीवन की कामना करते रहते हैं। दीर्घ जीवन की कामना करने का औजित्यपूर्ण और युक्तिसंगत अधिकार तो केवल उस व्यक्ति को है जो स्वयं उन्नति कर सके और दूसरों की उन्नति कराने में भी सहयोगी भूमिका का निर्वाह करे।

बाबूजी महाराज मुझे अकसर बताया करते थे कि दुनिया में केवल दो प्रकार के लोग दीर्घजीवी होते हैं – पापी और संत। पापी इसलिये चूँकि अपने पापों के संस्कार भोगने के लिये वह दीर्घजीवन के लिये अभिशापित हैं और संत इसलिये चूँकि उसे यहाँ रहकर अभिशापित लोगों की मदद करनी है। यह जेल के जेलर होने जैसी बात है। जेलर किसी भी कैदी से अधिक समय तक कारागृह में रहता है। अगर उसने 50 साल जेलर की

नौकरी की तो समझिये कि उसे 50 साल तक जेल में रहना पड़ा। दूसरे भले ही 2 दिन, 2 माह या 2 साल के लिये जेल में आयें, लेकिन उसे तो नौकरीपर्यन्त जेल में ही रहना होता है। बाकी लोगों के बारे में एक कहावत है : ईश्वर जिससे प्रेम करता है उसे जल्दी अपने पास बुला लेता है। इससे यह स्पष्ट है कि हमें जीवन, मृत्यु, आध्यात्मिक जीवन और सामान्य भौतिक जीवन – इन सभी चीज़ों के प्रति अपना दृष्टिकोण पूरी तरह से बदलना होगा। सच पूछा जाये तो आध्यात्मिक जीवन और भौतिक जीवन जैसी दो अलग-अलग जीवन नहीं होते। जीवन तो जीवन होता है। अगर हमने अपने जीवन का लक्ष्य जान लिया तो फिर हमारा जीवन आध्यात्मिक जीवन हो जाता है। इसे आध्यात्मिक इसलिये नहीं कहा जाता क्योंकि हम आध्यात्मिकता का अभ्यास करते हैं। आध्यात्मिक तो यह तब होता है जब हम स्वयं लक्ष्य की ओर बढ़ने के क़ाबिल हो जायें।

कोई आदमी इसलिये अच्छा नहीं होता कि वह हमें अच्छा लगता है या वह अच्छे काम करता है। हमें यह देखना होता है कि क्या वह अपने आप में अच्छा आदमी है? अगर हम उसके समस्त अच्छे कामों को उसके जीवन से हटा दें और इसके बाद भी उसमें अच्छाई बची रहे तभी उसे अच्छा आदमी कहा जा सकता है। क्योंकि यह उसके अंदर की अच्छाई है जो उसे सत्कर्मों की ओर प्रेरित करती है, उसके कर्म या दूसरी चीज़ें नहीं। कोई आदमी भला इसलिये नहीं होता क्योंकि वह भलाई के काम करता है, वह भला इसलिये होता है चूँकि वह जो कुछ भी करता है, उससे लोगों का भला होता है। सिखाकर तो आप तोते से भी ज्ञान की बातें कहलवा सकते हैं, लेकिन इससे तोता ज्ञानी थोड़े ही बन जाता है। इसी प्रकार बुरा आदमी केवल इसलिये बुरा नहीं हो जाता कि वह कभी-कभी बुरे काम करता है। दरअसल, आदमी न तो अच्छा होता है और न ही बुरा। कुछ अवसरों पर वह बुरा बन जाता है और कुछ अवसरों पर अच्छा। यह केवल इस बात पर निर्भर करता है कि उसके संस्कार उसे किस ओर धकेल रहे हैं। हमें बाबूजी महाराज का यह कथन हमेशा याद रखना चाहिये कि संस्कार बीज रूप में हमारे अंदर बहुत गहरायी में सुप्त पड़े रहते हैं, तब तक, जब तक

कि उन्हें अंकुरण के लिये समुचित वातावरण न उपलब्ध हो। कोई आदमी शराब पीना छोड़ना चाहता है। वह महीनों बिना पिये घूमता रहता है किन्तु एक दिन अचानक ख़ुद को मधुशाला के दरवाजे पर पाता है। उसका मन कहता है : क्यों न एक प्याला शराब ले ही ली जाये? संस्कार बीज रूप में उसके अंदर हैं। उनके अंकुरण का अवसर आया और वे अंकुरित हो गये।

मैं ऐसे कई भले लोगों को जानता हूँ जो भले इसलिये हैं कि उन्हें कोई बुरा कर्म करने का अभी तक अवसर नहीं मिला या हम यह भी कह सकते हैं कि वे बुरा कर्म करने से डरते हैं। मैं ऐसे निर्मल व्यक्ति को निर्मल मानने के लिये कतई तैयार नहीं हूँ जो केवल इसलिये निर्मल है चूँकि वह बुरा कर्म करने से डरता है। यह तो उसी तरह की बात हो गयी कि कोई व्यक्ति इसलिये प्रकाश में है चूँकि अंधकार से उसे डर लगता है। वह कहेगा : मैं तो हमेशा प्रकाश में रहता हूँ। यह तो ठीक है, लेकिन क्यों? इसलिये चूँकि वह अंधकार से डरता है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि हमें अपने अंदर अपने रचयिता, अपने सृष्टा जैसी उदारता विकसित करनी चाहिये। हमें समझना चाहिये कि हमने किसी अच्छी या बुरी वस्तु की रचना नहीं की बल्कि हमने तो केवल रचना की है। अब यह वस्तु पर निर्भर है कि यह क्या बनती है। हाँ, इसको मेरी सहायता अनन्त काल तक उपलब्ध है। आख़िर ये मेरे ही बच्चे हैं। मेरी कामना है कि ये जल्द से जल्द मेरे पास आयें।

जब ईसामसीह ने कहा : उन्हें मेरे पास आने से मत रोको। तो साथ में वे यह भी कहना चाहते थे कि उन्हें मेरे पास आने के लिये विवश करो। उन्होंने ऐसा क्यों कहा था? इसलिये चूँकि ऐसे लोग भी होते हैं जो हमारे गंतव्य तक पहुँचने के मार्ग में बाधा खड़ी करते हैं। वे कहते हैं : अरे! अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है? अभी से तुम्हें आध्यात्मिकता का नशा क्यों चढ़ गया? अभी 4-5 साल और प्रतीक्षा करो। यह काम तो 50 -60 साल की आयु के बाद करने का है। ईसामसीह ने ऐसे ही लोगों के लिये कहा कि उन्हें मेरे पास आने से मत रोको। उनके लिये यह कहकर कि अभी तुम्हारा समय नहीं आया है, बाधायें मत पैदा करो। यह ठीक है कि हर व्यक्ति अपना रास्ता चुनने के लिये स्वतंत्र है लेकिन जिनकी दृष्टि में

उनका लक्ष्य, मार्ग और लक्ष्य तक पहुँचने की ज़रूरत स्पष्ट है, उनके रास्ते में बाधा मत खड़ी करो।

इससे यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक व्यवहार या सद्व्यवहार का पहला नियम यह है कि दूसरों को गुरु के पास जाने से, उसकी स्वयं की उन्नति से और लक्ष्य की ओर जाने से कभी मत रोकिये। उनको स्वतंत्र होकर चलने दीजिये। इसी के साथ जो लोग इस रास्ते पर नहीं चलना चाहते, उनके साथ ज़ोर-जबरदस्ती भी नहीं की जानी चाहिये। किसी अच्छे काम के लिये भी बल प्रयोग करना हमेशा हानिकारक होता है। बाबूजी महाराज ने कहा था : अगर तुम ताक़त का इस्तेमाल करोगे तो इसकी प्रतिक्रिया भी ज़रूर होगी। इसलिये हमें कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखानी है। आख़िर इस रास्ते को नापने वाले हम कौन होते हैं?

यूरोप में मैं कारों से बहुत घूमता रहा हूँ। तेज चलने वाली कारें, तेज चलाने वाले चालक और तेज सड़कें; कभी-कभी हमारी अपेक्षा के प्रतिकूल सड़क बिलकुल खाली मिलती है और कभी ऐसा भी होता है कि हमारी सोच के विपरीत हमें सड़क जाम मिलती है और हमें घंटों ऐसे ही खड़े रहना पड़ता है। यह देखने की बात है कि हम इतनी छोटी सी बात का भी पूर्वानुमान नहीं कर सकते। हम यह नहीं बता सकते कि वहाँ पहुँचने पर सत्य का स्वरूप कैसा होगा? आध्यात्मिकता में ऐसा कोई विधान नहीं है कि पहले शुरू करने वाला पहले गंतव्य पर पहुँचेगा। जल्दी यात्रा शुरू करने का मतलब यह कतई नहीं है कि हम वहाँ जल्दी पहुँचेंगे। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि हम लक्ष्य के बिलकुल नज़दीक पहुँच गये हों, उस समय कोई व्यक्ति यात्रा शुरू करे और हमसे पहले वह गंतव्य पर पहुँच जाये। मैंने ऐसी घटनाओं को कई बार घटते हुये देखा है। दरअसल में आध्यात्मिक यात्रा को समय की किसी ईकाई में नहीं नापा जा सकता। जीवन तो खुद में ही एक मार्ग है। इसमें कोई व्यक्ति पहले से चल रहा है और कोई व्यक्ति बाद में चलना शुरू करता है, इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है?

यह वैसे ही है जैसे नदी की सतह पर कोई नाव तैर रही हो। कभी बायें, कभी दायें; वहीं एक दूसरी नाव आती है जो सीधी चली जाती है।

कोई नाव ऐसी भी हो सकती है जो समर्थ चालक के अभाव में वापस लौट जाये। उसे चप्पू चलाना न आता हो, पाल बाँधना न आता हो, पतवार पकड़नी न आती हो। अब सब नावें तो उसी नदी पर तैर रही हैं। उसकी नाव वहीं गोल-गोल घूमने लगती है। लोग उस पर हँसते हैं। उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। यहाँ भी ज़रूरत होती है कि हम सावधान रहें, उसका मज़ाक न उड़ायें। क्या पता वह अचानक बहुत कुछ सीख जाये। उसने बहुत सी ग़लतियाँ की हैं। उन ग़लतियों से उसने बहुत कुछ सीखा है। वह जानता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों से कैसे निपटा जा सकता है। इन चीज़ों का लाभ उठाकर वह उन सभी नावों से पहले गंतव्य पर पहुँच सकता है जो उससे बहुत पहले ही गंतव्य के काफ़ी करीब पहुँच गयी हैं। अगर कोई तेज धारा आ जाये तो जो अपने को बहुत कुशल नाविक समझता है, वह भी परेशानी में पड़ सकता है क्योंकि उसने पहले कभी किसी बाधा या हताशा का सामना तो किया नहीं। हो सकता है कि वह रास्ते से भटक जाये। यह भी हो सकता है कि वह डूब जाये। किन्तु वह व्यक्ति जो नावों से टकराया है, जो तमाम बाधाओं को जीतकर आगे बढ़ रहा है, बीसियों बार पानी में डूबा है, निपुण बन जाता है।

इसलिये यह ज़रूरी है कि हमें अपने दृष्टिकोण की उदारता समझ में आये। हर व्यक्ति रास्ते में हैं और वह कहीं न कहीं, किसी से कुछ सीख रहा है। अच्छाई से भी उतना ही जितना बुराई से। इसीलिये बाबूजी कहते थे : अभ्यासियों और ग़ैर अभ्यासियों में फ़र्क मत करो। आख़िर हम फ़र्क़ करने वाले होते ही कौन हैं? 'वह' अंतर कर सकता है। यह अधिकार उसका है, हमारा नहीं। हम इटालवी, आर्मेनियायी, रुमानियायी या रुसियों में फ़र्क़ नहीं कर सकते। जब 'वह' अंतर नहीं करता, तो हम अंतर करने वाले कौन होते हैं? कोई कह सकता है कि हमें तो इटालवी अभ्यासी बिलकुल पसंद नहीं हैं। वे स्पेगेटि खाते हैं। दूसरा कह सकता है कि उसे जर्मन अभ्यासी पसंद नहीं हैं। वे सुअर के माँस से बना हुआ भोजन खाते हैं। लेकिन हम किसी को पसंद या नापसंद करने वाले होते कौन हैं?

बाघ किसी जानवर का शिकार करके पेट भरता है, तो गाय घास चरके अपना पेट भरती है, तो क्या इन्हीं बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि गाय बाघ से श्रेष्ठ है? ईश्वर ने बाघ भी बनाया और उसने गाय की भी सृष्टि की। दोनों अपने-अपने तरीके से रह रहे हैं। अब हम इस बात का निर्णय करने वाले कौन होते हैं कि इनमें से कौन अच्छा है और कौन बुरा? हम चाहें तो बुद्धिमानी से उन दोनों का उपयोग ज़रूर कर सकते हैं। बाघ का साहस और हिन्दुओं की मान्यतानुसार दूध देने में गाय की उदारता का गुण हम अपने अंदर उतारने का प्रयास करें। इस तरह हम इस जीवन में यही सीखने आते हैं कि जीवन के प्रत्येक पहलू से हम सर्वोत्तम बात कैसे सीखें? हमें चाहिये कि हम निकृष्टतम की ओर न देखें बल्कि श्रेष्ठतम की ओर देखें। तभी हमारी सोच सकारात्मक होगी और हम सच्चाई के साथ दूसरों की सहायता कर सकेंगे।

अगर हम केवल बीमारी, मलिनता और असुन्दरता ही देखते रहेंगे, तब तो हम केवल मेहतर बनने लायक ही रह जायेंगे। जो व्यक्ति हर जगह कूड़ा-करक़ट, गंदगी और असुन्दरता ही देखता है, उस व्यक्ति के लिये तो यह ज़रूरी है कि उसके हाथ में झाड़ू पकड़ाकर कह दिया जाये कि इस गंदगी को साफ करो, झाड़ू मारो। तुम केवल इसी लायक हो, क्योंकि तुम्हें गंदगी के अतिरिक्त कहीं कुछ और नहीं दिखता। कहा जाता है कि केवल सुअर ही ऐसा प्राणी है जो ऊपर नहीं देख सकता, हमेशा नीचे ही देखता है।

अगर हमारे अंदर महानता है, तो निश्चय ही हमें दूसरों के अंदर महानता दिखनी चाहिये। किसी सुंदर चित्र को देखकर यह कहना तो बहुत आसान है कि इसमें सब कुछ तो बहुत सुंदर है लेकिन यहाँ जरा सी कमी रह गयी है। किसी मधुर ध्वनि को सुनकर यह कहना हमेशा आसान है कि सब कुछ तो ठीक था, अंत में स्वर थोड़ा सा गड़बड़ हो गया। स्पेगेटी खाकर यह कहना हमेशा आसान है कि वस्तुत: यह ठीक से पक नहीं पायी। दरअसल, किसी भी चीज़ की आलोचना करना बहुत सरल है। मूर्ख व्यक्ति भी आलोचना कर सकता है; और सच तो यह है कि मेरी राय में मूर्ख व्यक्ति ही आलोचना कर सकता है। समझदार लोग कभी आलोचना नहीं

करते क्योंकि विवेकशील होने के नाते मिट्टी से हीरे निकालना, समुद्रतल से हीरे बीन लाना, इनका कारोबार है, न कि समुद्र की विराटता को देखकर यह कहना कि हे मालिक! यह समुद्र तो पूरी तरह कूड़े-करकट, कीचड़ तथा विभिन्न स्रावों से भरा हुआ है, इसका क्या उपयोग है? मालिक कहते हैं : अरे! देखो तो सही, इसमें कितने मोती, हीरे, जवाहरात इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।

हमें आकाश की ज़रूरत क्यों है? इसलिये ताकि हम तारों को देख सकें। अगर आकाश न होता तो वहाँ तारे कैसे होते? हर चीज़ के लिये हमें एक पृष्ठभूमि की ज़रूरत होती है। जब तक हम इस भौतिक संसार में विद्यमान हैं, बुराई नेकी की पृष्ठभूमि है। किसी भी वस्तु को देखने के लिये हमें उसकी तुलना दूसरी वस्तु से करनी पड़ती है। मूल्यों की धारणा वस्तुतः मूल्यांकन की धारणा है। ईश्वर तुलना नहीं करता। वह कहता है : तुम जैसे भी हो, मेरे पास आओ। हम कहते हैं : नहीं, नहीं, मैं तो बहुत बीमार हूँ। लेकिन आख़िर आप कैसे जानते हैं कि आप बीमार हैं? क्या आप समझते हैं कि आप इससे अधिक बीमार नहीं हो सकते? इसका निर्णय भी तुम नहीं कर सकते। मैंने परम रुग्णता देखी है। तुम्हारी रुग्णता उसके आगे कहीं नहीं टिकती। *''नहीं, नहीं, मैं बहुत ज्ञानी हूँ। मैं ईश्वर को नहीं मानता।''* ''अरे! तुम इतने ज्ञानी हो कि ईश्वर को भी नहीं मानते? बहुत बुद्धिमान हो। आओ! मैं तुम्हें बताऊँगा कि बिना बुद्धि की सहायता लिये ईश्वर को कैसे पाया जा सकता है?'' जब वह कहता है : आओ, सब मेरे पास आओ! तो वह कोई अन्तर नहीं क़रता। क्या कोई डाक्टर कह सकता है कि केवल स्वस्थ लोग ही मेरे पास आएं। मान लीजिये कि पॉल जुयल कहे : मैं केवल स्वस्थ रोगियों को ही देखता हूँ। लोग उस पर हँसेंगे। लोग पूछेंगे : तुम डॉक्टर हो या संत? क्योंकि लोगों की यह सोच है कि संत भी केवल निर्मल व्यक्तियों को ही अपना शिष्य बनाता है, जबकि सत्यता इसके विपरीत है। हमें यहाँ संतों की ज़रूरत नहीं है।

अगर हमने बाबूजी के लक्ष्य को ठीक से समझ लिया है और उनकी बातों पर विश्वास करते हैं, तो हम यहाँ संत बनने आये हैं। हमारे पास संत

नहीं आते बल्कि हम संत बनने आते हैं। कोई स्वस्थ भारोत्तोलक भला पॉल के पास क्यों जायेगा? इसलिये हमें यहाँ उपस्थित लोगों में संतों की खोज नहीं करनी चाहिये। यहाँ उपस्थित सभी लोग संत बनने की प्रक्रिया में कहीं न कहीं हैं। अगर आप संतों को देखना चाहते हैं तो कारखाने का उत्पादन तैयार होकर जिस सिरे से निकलता है, वहाँ जाइये, उपादान सामग्री वाले सिरे पर तो आपको अनगढ़ सामग्री ही मिलेगी। वनों से काटी गयी लकड़ी गिरी पड़ी है। वह इस बात का इन्तज़ार कर रही है कि उसे तराशा जाये ताकि सुंदर डेनिश, नार्वेजियन फर्नीचर बनकर वह सारे संसार में पहुँच सके। वस्तुतः, उत्पादक सिरे पर ही हम संतों का दर्शन कर सकते हैं, प्रारम्भिक सिरे पर नहीं, जहाँ हम अभी हैं।

मुझे इस संदर्भ में हमेशा नदी की याद आती है। यह बड़ी हास्यास्पद बात है कि अधिकांश नदियाँ अपने लक्ष्य पर न पहुँचकर दलदल में खो जाती हैं। वे भिन्न छोटी धाराओं में विभक्त होकर सूख जाती हैं। भूगोल में इन्हें वितरिकायें कहते हैं। प्रवाहिकायें नदी में योगदान करती हैं जबकि वितरिकायें इसे विभक्त करती हैं। इन वितरिकाओं के कारण नदी में पानी की क्षीण धारें रह जाती हैं, न कोई प्रवाह रह जाता है, न कोई बल और न ही कोई आयतन। नदी की जगह एक दलदल बच जाता है। पता भी नहीं चलता कि नदी का जल कहाँ विलीन हो गया? अद्‌भुत नदी कहाँ खो गयी? इन्हीं कच्छों में, इन्हीं दलदलों में वह कहीं खो गयी। इस बात पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि हमारी जीवन-यात्रा में कई वस्तुयें हमारी मदद करती हैं – किसी की समझदारी, किसी की मूर्खता, किसी का धन, किसी की निर्धनता, किसी की सुन्दरता तो किसी की कुरूपता, किसी की उदारता तो किसी की कृपणता। इन सभी चीज़ों से हम कुछ न कुछ सीखते हैं। ऐसा कैसे बनें और ऐसा कैसे न बनें? दोनों की बातें हमें सीखने को मिलती हैं। वस्तुतः सच्ची जीवन प्रवाहिकायें हमारे लिये अति आवश्यक हैं। हम हर उस वस्तु से सीखते हैं जो हमारी प्रगति में योगदान करती हैं।

अगर यात्रा के अंत में हम भी नदियों की तरह बेवकूफ़ी करने लगें और स्वयं को विभिन्न योजनाओं, कार्यों, शौकों और आदतों की

वितरिकाओं में विभाजित कर लें तो अपने जीवन को भी हम दलदल बना लेते हैं। यही हमारे जीवन की त्रासदी है। पता चलता है कि अब यहाँ कोई नदी नहीं है। बस! एक क्षीण रेखा सरीखी धार रह गयी है जिसका पानी कोई नहीं जानता कि कहाँ जाकर लुप्त हो जाता है – नरकुल में, खर-पतवार में या दलदली रेत में। अगर उस पर हमारा एक भी पैर पड़ जाये तो हम पूरे के पूरे उसी में धँस जायेंगे। ऐसा व्यक्ति बाकी समाज के लिये ख़तरा बन जाता है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि हमें चाहिये कि हम अपने जीवन की इस विशाल क्षमता को, इस आयतन और इस विशाल शक्ति को बनाये रखें ताकि यह अपने लक्ष्य तक पहुँच पाने में समर्थ हो। अगर हम कमज़ोर पड़ जायेंगे और अपने गंतव्य का मार्ग बदल देंगे तो यह हमारे लिये तो ख़तरनाक सिद्ध होगी ही, हम दूसरों के लिये त्रासदी बनकर रह जायेंगे।

हमारे पास एक मालिक हैं, एक मिशन है और एक पद्धति है। अभी तक मैं यही मान कर चलता था कि यह सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होती है लेकिन आज सुबह मैंने खोज की कि मालिक का भी एक मालिक होता है, एक मिशन होता है और एक पद्धति होती है। प्रत्यक्षत: उनका मालिक, उनका मिशन और उनकी पद्धति, मानव कल्याण, मानव की उन्नति और उनके आध्यात्मिक विकास करने के कार्य में उनके उपयोग हेतु प्रस्तुत रहते हैं। अब आप पूछ सकते हैं कि प्रशिक्षक लोग जिस मालिक, मिशन और पद्धति की चर्चा करते रहते हैं, वह क्या है? क्या उनका आशय भी यही होता है? प्रत्यक्षत: उनका आशय भी वही हो – ऐसा संभव नहीं है। क्योंकि उनका भी एक मालिक होता है। मिशन एक अर्थ में उनका है भी, और नहीं भी, क्योंकि जिस वस्तु का उपयोग कोई कर रहा होता है, वह उसका हो भी सकता है और नहीं भी।

वह आवास जिसमें मैं रह रहा हूँ – चाहे मैं उसका मालिक होऊँ या नहीं, वह मेरा घर नहीं है। धनवान लोग, जो कई मकानों के मालिक हैं, इस तथ्य से भलीभाँति परिचित होंगे। 3 दिन वे व्यारिज में रहते हैं तो 3 दिन टिम्बकटू में। कई स्थानों पर उनका निवास होता है, लेकिन उनका

कोई घर नहीं है। क्योंकि जब तक मैं किसी चीज़ का उपयोग नहीं करता मैं यह नहीं कह सकता कि यह चीज़ मेरी है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या प्रशिक्षक लोग मिशन का समुचित उपयोग कर रहे हैं? मालिक ने मिशन का प्रयोजन बताया है – अभ्यासियों का आध्यात्मिक और भौतिक कल्याण। क्या प्रशिक्षकगण इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर मिशन का उपयोग कर रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हर प्रशिक्षक को हमेशा तैयार करना चाहिये। पद्धति – क्या पद्धति उनकी है? नहीं। यह तो मालिक की है। हाँ, अगर वे मालिक की आज्ञानुसार इस पद्धति का उपयोग कर रहे हैं तो यह उनकी है। इस प्रकार ग़ौर करने पर हम पाते हैं कि गुरु के लिये तो मालिक, मिशन और पद्धति – तीनों उसकी है। इस पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं है। प्रशिक्षक के लिये ये तीनों वस्तुयें उसकी हो भी सकती हैं और नहीं भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रशिक्षक 'मेरे मालिक' कहते समय कितना गंभीर हैं? क्या यह ध्वनि उसके हृदय से निकलती है या यह केवल उसकी धारणा है? क्या वाक़ई यह उसका मिशन है? क्या कोई प्रशिक्षक कह सकता है कि यह उसका मिशन है? क्या वह मिशन का उपयोग उसी प्रयोजन से कर रहा है जिस प्रयोजन के लिये मालिक ने उसे मिशन दिया है। अगर नहीं, तो स्पष्ट है कि यह उसका मिशन नहीं है। पद्धति – क्या पद्धति को प्रशिक्षक अपना कह सकता है? यहाँ भी वही बात दुहरायी जाती है।

इसका मतलब यह है कि मालिक की चीज़ों को अपना कहने से पहले प्रशिक्षकों को पहले अपना आंकलन करना होगा। वे अपने दिल पर हाथ रखकर पूछें कि क्या उन्होंने मालिक को दिल से स्वीकार कर लिया है? उसे यह तय कर लेना होगा कि उसे इस बात में कहीं से संशय नहीं है कि वह पूरी तरह से अपने ध्येय के प्रति समर्पित नहीं है। वह उनका भक्त है और उनसे प्रेम करता है। क्या यह उसका मिशन है? क्या उसे इस मिशन को अपना कहने का अधिकार है? क्या वह इस मिशन का उपयोग स्वयं के लिये और पास आये अभ्यासियों के लिये वैसे ही कर रहा है जैसे मालिक करते हैं? अगर ऐसा है तब तो वह यह कह सकता है कि

यह उसका मिशन है, अन्यथा उसे यह कहने का अधिकार नहीं है कि यह उसका मिशन है। उसे यह भी सोचना चाहिये कि क्या वह इस पद्धति को अपना कह सकता है? क्या वह इस मिशन का उपयोग अपने कल्याण, अभ्यासियों के कल्याण और निजी साधना के लिये उसी तरह से कर रहा है जैसे मालिक करते हैं? अगर इसका उत्तर 'हाँ' है तब तो यह पद्धति उसकी कही जा सकती है, अगर इसका उत्तर 'नहीं' में है, तो यह स्पष्ट है कि यह पद्धति उसकी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मेरा मालिक, मेरा मिशन और मेरी पद्धति - इन शब्दों का उपयोग केवल मालिक ही पूरी तरह से कर सकते हैं। बाकी लोग अगर इन शब्दों का प्रयोग करना चाहते हैं तो उन्हें इस पर गहरायी से सोच लेना चाहिये। प्रशिक्षकों को अपने दिल पर हाथ रखकर इन प्रश्नों के उत्तर देने चाहिये।

आप पूछेंगे : अभ्यासियों के संदर्भ में इन शब्दों के प्रयोग के बारे में क्या सोचा जाये? मेरी राय में अभ्यासियों पर भी ये नियम उसी तरह लागू होते हैं जैसे प्रशिक्षकों पर। हाँ, उनको कुछ हद तक इन नियमों के पालन में आज़ादी दी जा सकती है। प्रशिक्षक तो मालिक की सेवा के लिये उनका प्रतिबद्ध सेवक होता है जबकि अभ्यासी के लिये ऐसा कोई बंधन नहीं होता। यहाँ यह भी समझ लेने की ज़रूरत है कि प्रशिक्षक की मालिक के प्रति यह प्रतिबद्धता, विवशता में की गयी प्रतिबद्धता नहीं है बल्कि इस प्रतिबद्धता को वह अपनी स्वेच्छा से धारण करता हैं। मैंने पाया है कि कई लोग तो सालों से प्रशिक्षक बनने की इच्छा मन में पालते आ रहे हैं। अब अगर यह मालिक की सेवा करने के लिये उनके द्वारा स्वेच्छा से अंगीकार की गयी प्रतिबद्धता है तब तो मालिक, मिशन और पद्धति के प्रति उसकी प्रतिबद्धता संपूर्ण रूप से हो जाती है। वह यह नहीं कह सकता कि अरे! मैंने यह तो सोचा ही नहीं था। अगर उसकी सोच इस तरह की है तो फिर केवल एक ही रास्ता बचता है : संबंध-विच्छेद।

अब अभ्यासी तो अभ्यासी हैं, जब तक आते-जाते वे इतने प्रतिबद्ध नहीं हो जाते कि सामान्य अभ्यासी के स्तर से उठकर मालिक के शिष्य बन जायें। इसलिये बाबूजी महाराज, अभ्यासियों के लिये कभी भी शिष्य

शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। वे अभ्यासियों को अपना *असोसियेट* कहते थे। *असोसियेट* यानी साथी। चूँकि हम मालिक के साथ हैं, इसलिये हम उनके साथी हैं। हम उनकी संगत में रह रहे हैं – एक ही मेज पर, एक ही शयनागार में, एक ही भोजन कक्ष में, एक ही कार में, एक ही ट्रेन में और एक ही वायुयान में। लोग मुझे आज भी बताते हैं कि मैंने क्वालालंपुर से मद्रास तक बाबूजी के साथ वायुयान में यात्रा की थी। जब मैंने पूछा : आख़िर यह बात आप मुझे क्यों बता रहे हैं? तो उन्होंने कहा : केवल इसलिये ताकि आप जान सकें कि मैं बाबूजी को अच्छी तरह से जानता था। यह तो बहुत ही अच्छी बात है, लेकिन आपने इस ज्ञान का उपयोग क्या किया? लोग हमेशा बाबूजी की प्रशंसा करते रहते हैं – वे इतने अद्‌भुत थे, इतने शालीन, इतने विनम्र, इतने उदार और इतने परोपकारी थे कि हमारी त्रुटियों को क्षमा कर देते थे। उनकी तरह हम कितने लोगों को उनकी त्रुटियों के लिये क्षमा करने को तैयार हैं। वे संत और पापी, दोनों को प्राणाहुति देते थे, क्या हम भी संत और पापी, दोनों को प्राणाहुति देने के लिये तैयार हैं? हम अभ्यासियों को अच्छा और बुरा, दो खेमों में बाँटकर उनके साथ भेदभाव तो नहीं कर रहे हैं?

इन सब बातों पर ग़ौर करने की ज़रूरत है अन्यथा मालिक को अच्छी तरह से जानने का क्या मतलब है? अगर आप मालिक से मिले ज्ञान का समुचित उपयोग अपने जीवन में नहीं करते तो फिर इस ज्ञान का क्या मतलब? मैं भूगोल बहुत अच्छी तरह जानता हूँ लेकिन इससे क्या फ़ायदा? आज मैं यहाँ प्रवचन दे रहा हूँ। सचमुच मैं भूगोल का अच्छा जानकार हूँ। इस विषय में मेरी बहुत रुचि थी किन्तु पिछड़कर यह मन की गहराइयों में कहीं दब गया। आज भी जब मैं विभिन्न किस्म की चट्टानों को देखता हूँ, उत्कंठा से भर उठता हूँ। मैं सोचता हूँ : काश! मैं उन मैदानों में हथौड़ा और छेनी लेकर जाता, तेल के कुँए खोदता, सोने की खदानें खोजता। अगर परिणामों के आधार पर मैं अपने जीवन का मूल्यांकन करूँ तो मैं वहाँ, यहाँ की अपेक्षा बेहतर स्थिति में होता। निश्चित रूप से यहाँ की तुलना में मैं वहाँ अच्छे परिणाम दे पाता। इतना तो निश्चित ही है कि

चट्टानें किसी तरह का प्रतिरोध नहीं पैदा करती। उन्हें न तो पिघलने का ग़म है, न ही चूर्ण बनने का। इसके विपरित पिघलने के बाद भी ये बूँद-बूँद मिलकर बहती हैं। उदाहरण के तौर पर खिड़की के काँच पर जमीं वर्षा की बूँदें। ये बूँदें एक-एक कर ऊपर से नीचे आती हैं फिर दूसरे से मिलने के बाद इनकी गति तेज हो जाती है। फिर नीचे आकर ये तीसरी बूँद से मिलती है, गति और भी तेज हो जाती है, इस तरह धीरे-धीरे यह बूँद एक धारा का रूप ले लेती है। अगर यही बात हम व्यक्तियों पर लागू करें तो वे समस्या खड़ी कर दें। जहाँ दो आदमी एक-दूसरे से मिले, परिणाम विरोध होता है। दस को साथ रख दीजिये तो परिणाम झगड़ा। सौ को एक साथ रख दिया तो भयानक युद्ध। लेकिन यही बात पानी के साथ पानी को मिलाने में नहीं होती। यह मिलकर एक हो जाता है। पारे को पारे के साथ रख दिया जाये तो पारे का एक बड़ा पिण्ड बन जाता है।

इस पर अगर ग़ौर करें तो हम पाते हैं कि प्रकृति एकजुट होने और वृद्धि करने की ज़रूरत को कितने शानदार तरीके से तवज़्ज़ोह देती है। एक बीज से पेड़ बनने का उदाहरण देख लीजिये। लेकिन यही बात मनुष्यों के बीच आते ही विरोध, कलह, झगड़ा शुरू हो जाता है। आख़िर ऐसा क्यों? क्योंकि हम व्यक्तियों के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं। ''नहीं, नहीं, मैं तो इस व्यक्ति के साथ नहीं बैठूँगा - यह इटलीवासी है।'' ''अरे नहीं, यह तो कोई पागल भारतीय है। बेवकूफ़ी की बातें करता है - हिन्दुत्व की।'' वस्तुतः पूर्वाग्रह मानवता का शत्रु है, मानवीय एकता का शत्रु है। रामायण के रावण की भाँति इसके कई मुख हैं - वर्ण पूर्वाग्रह, नस्ल पूर्वाग्रह, यौन पूर्वाग्रह, रस पूर्वाग्रह, आदतों का पूर्वाग्रह, आदि-आदि। ''अरे, वे तो अँगुलियों से भोजन करते हैं।'' हिन्दू सोचता है, दूसरा मूर्ख है। ''देखो! छुरी-काँटों से खाता है। जबकि ईश्वर ने भोजन करने के लिये अँगुलियाँ दी हैं।'' यह सब क्या है? पूर्वाग्रह है। तौर-तरीकों के प्रति पूर्वाग्रह और सबसे बड़ी परेशानी यह कि हर आदमी अपने पूर्वाग्रहों से बुरी तरह चिपका हुआ है। हर आदमी सोचता है कि वह ज्ञानी है - यही उसका पूर्वाग्रह है। कहा जाता है कि जानने का दावा करने वाला हमेशा मूर्ख होता है।

लेकिन बाबूजी इसे नहीं मानते थे। उनका कहना था : मूर्ख या अज्ञानी ही परम ज्ञानी होता है। वह सब कुछ जानता है। ऐसा इसलिये क्योंकि बिना जाने ही सारा ज्ञान उसके अंदर है। ज्ञानी, जानने की जिज्ञासा द्वारा, तथ्यों के अर्जन और अध्ययन द्वारा ज्ञान अर्जित करता है। अगर उसका दिमाग ख़राब हो जाये तो उसका सारा ज्ञान धरा का धरा रख जायेगा। दूसरी ओर मूर्ख या अज्ञानी व्यक्ति अपनी अज्ञानता के परमानन्द में खोकर कहता है : जब भी जिस वस्तु की उसे ज़रूरत होगी, वह उसे मिलेगी ही और वह उसे मिलती भी है।

बाबूजी के पास शैक्षणिक उपाधि नहीं थी। वे स्वयं कहते थे : मैं स्कूल की सातवीं-आठवीं कक्षा से अधिक नहीं पढ़ा हूँ। उन्होंने ख़ुद अपनी जीवनी में इसे लिखा है। फिर भी हममें से कई इस तथ्य को जानते हैं कि वे आइनस्टाइन सरीखे व्यक्ति से भी सार्थक संवाद करने में सक्षम थे। वे कभी निरुत्तर नहीं होते थे, न कभी कुछ खोते थे क्योंकि इसके पीछे उनकी दृष्टि कभी कुछ पाने की नहीं होती थी। जिन्हें कुछ प्राप्त करना होता है, उनके पास खोने के लिये भी बहुत कुछ होता है। जब हमें कोई चीज़ पानी ही नहीं है तो फिर किसी चीज़ के खोने का क्या डर? सहज मार्ग में हम कुछ पाने की आशा से नहीं आते। फिर सहज मार्ग से फ़ायदा ही क्या है? अगर कोई व्यक्ति अपने मन में यह प्रश्न लेकर आता है, तो निश्चित है कि उसे बहुत कुछ खोना होगा। लेकिन अगर वे इस विचार के साथ आते हैं कि आध्यात्मिक प्रगति करना उनके लिये ज़रूरी है, नैसर्गिक है, तो फिर समस्या क्या है? अगर हमें इस बात की जानकारी हो जाये कि जो कुछ भी हम कर रहे हैं, वह प्रगति के विरूद्ध है, प्रगति कारक नहीं है, तब तो हमारी समस्या ही ख़त्म हो जायेगी।

सहज मार्ग हमारी सोच को सही दिशा देता है। यह लाभ प्राप्त करने की कोई संस्था नहीं है। सहज मार्ग का लक्ष्य हमारे जीवन को समरस, एकत्वमय और दिव्य बनाना है। यह कठिन नहीं है। यह तो नदी की धारा में बहते जाने जैसा सरल है। नदी आपको ख़ुद-ब-ख़ुद बहा ले जाती है। आपको केवल नदी में प्रवेश करके उसकी धारा के साथ तैरना है। फिर

यह साधना क्या चीज़ है? यह तो मौज है, क्रीड़ा है। बैठकर ध्यान करना अच्छी चीज़ है। ध्यान में बड़े सुंदर अनुभव होते हैं। हमें परमानन्द मिलता है। हम अपनी चेतना खो देते हैं। हमें जो बनना है, उसका हमें पूर्वाभास हो जाता है। जैसे मैं अपने भोजन कक्ष में जाकर एक शहतूत उठाकर मुँह में रख लेता हूँ, और प्रसन्न हो जाता हूँ। क्या मुझे शहतूत खाना अच्छा लगता है? नहीं, मैं इस प्रकार खाना खाने का आनन्द लेता हूँ। इससे मुझे मेरे सामने आने वाले समस्त प्रकार के व्यंजनों का आभास मिलता है। इसी तरह ध्यान के समय जिन अवस्थाओं का हम अनुभव करते हैं, वे सूर्योदय के पूर्व गोचर के समय होने वाले प्रकाश की तरह है। अब सूर्योदय होने वाला है। देखो! लेकिन मुझे सूर्य नहीं दिखाई दे रहा है। वह भी दिखाई देगा। तुम्हें कैसे पता? क्षितिज में फैले उन रंगों को देखो। सूर्योदय के पूर्व क्षितिज सुंदर दिखता है, सूर्यास्त के बाद नहीं। उदीयमान वस्तुयें हमेशा सुंदर दिखती हैं। लेकिन हम संत बनने के बाद सौंदर्य की अपेक्षा रखते हैं।

बाबूजी महाराज कहते थे कि संत, दुनिया के मनोरंजन के लिये होता है, स्वयं के लिये उसे कुछ चाहने का हक़ नहीं होता। सूर्य तो हमें ऊर्जा प्रदान करने के लिये होता है, सुंदरता के लिये नहीं होता। विज्ञान कहता है कि सूर्य की रश्मियाँ वायुमण्डल में अधिकतम दूरी से होकर गुज़रती हैं। प्रकाश के अपने अवयवी वर्णों में बिखरने की अद्‌भुत प्रक्रिया, बादलों, वायुमंडल एवं वायुमण्डलीय रजकणों द्वारा प्रकाश का व्यतिकरण – ये सब क्रियायें सूर्योदय एवं सूर्यास्त को सौंदर्यपूर्ण बनाती हैं। हम कहते हैं, सूर्य सुंदर है। लेकिन ऐसा नहीं है। सूर्य सुंदर नहीं है। सुंदर बाबूजी? जैसा हमने उन्हें देखा। दंतविहीन मुख से वे हमेशा मुस्कुराते रहते थे। हमने उस वृद्ध व्यक्ति को पसंद किया जो हमारे सभी अवगुणों को क्षमा करने के लिये हमेशा तैयार रहता था। इसीलिये हम कहते हैं कि बाबूजी महान व्यक्ति थे। लोग मुझे बताते हैं : चारीजी! उन्होंने मेरी आदतों के बारे में कभी भी मुझसे कुछ नहीं कहा। आप ठीक कह रहे हैं। उन्होंने आपसे इसलिये कुछ नहीं कहा क्योंकि अपनी वृद्धावस्था में वे अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहते थे। सोचते होंगे : अगर मैंने कुछ कहा भी तो यह मानेगा नहीं। अगर

मैं इसे रास्ता बताऊँ भी, तो यह उस पर चलेगा नहीं। इसलिये इस मक्क़ार को पकड़कर मैं अपने साथ रखता हूँ। अपने लज्जाशील स्वभाव, दंतविहीन मुस्कान, अस्पष्ट शब्दों और अपने अगम्य तर्कों से वे हमेशा हमें बाँधे रखते थे। किसी को मोहित करने के उनके पास कई तरीके थे।

हमें कभी भी आभासी निर्बलता को वास्तविक निर्बलता अथवा आभासी सामर्थ्य को वास्तविक सामर्थ्य समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। बाबूजी में ये दोनों ही चीज़ें नहीं थीं। वे न तो बलवान थे और न ही निर्बल। हमें अज्ञानता के आभासी प्रदर्शन से आकर्षित नहीं होना चाहिये। ''नहीं, नहीं देखो! मैं तुम्हें बता रहा हूँ, मेरा ज्ञान शून्य है,'' जब भी बाबूजी यह कहते थे तो यह उनके द्वारा व्यक्त सच्चाई होती थी। उनका ज्ञान वाक़ई शून्य था कयोंकि वे जानते थे कि शून्य क्या है। हममें से कोई यह नहीं जानता कि शून्य क्या चीज़ है। हम उनकी यह बात सुनकर कहते थे : इतने बड़े महात्मा हैं – समस्त ब्रह्माण्ड के मालिक, और कहते हैं कि वे कुछ नहीं जानते। सचमुच विनम्रता की पराकाष्ठा है। फिर उन्होंने एक बार कहा : मैं एक अँगुली के इशारे से सारे विश्व को लट्टू की तरह घुमा सकता हूँ। आप देखिये! वे कितने महान थे। न तो बलवान थे, न पढ़े-लिखे, न ही उन्हें किसी वस्तु का ज्ञान था, फिर भी वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को लट्टू की तरह नचा सकने का सामर्थ्य रखते थे। अब है न यह आश्चर्य की बात? लेकिन यह सच है कि ब्रह्माण्ड घूम रहा है और किसी न किसी ने तो इसे घुमाया ही है। हम कहते हैं : बाबूजी! आप मेरे लिये फलाँ काम कर सकते हैं? बाबूजी का जवाब होता था : क्यों नहीं! अगर लालाजी महाराज इजाज़त दें तो मैं कुछ भी कर सकता हूँ।

इस पर अगर हम ग़ौर करें तो पायेंगे कि वे हमेशा हमें चिढ़ाते रहते थे। हमें अपनी ओर आकर्षित करने के लिये वे हमेशा हमे चिढ़ाया करते थे जैसे कोई बच्चे को खिलौना दिखाकर चिढ़ाता है। जब वह खिलौना लेने हमारे समीप आता है तो हम उसे पकड़ लेते हैं। बच्चे को भले ही खिलौना मिल जाये लेकिन हमें भी तो बच्चा मिल जाता है। ये ऐसी तकनीक़ है जिन्हें उपयुक्त व्यक्ति द्वारा उपयुक्त समय पर, उपयुक्त रूप से,

उपयुक्त व्यक्ति पर प्रयुक्त किया जाना चाहिये। ये तकनीकें समय-समय पर बदलती रहती हैं। हमें चाहिये कि हम मूर्ख बनकर यह न कहें कि सूर्य सुंदर है। बाबूजी न तो ज्ञानी थे, न बलवान, न निर्बल, न मानव थे और न ही ईश्वर। वे तो वह सत्ता थे जहाँ से ज्ञान नि:सृत होता है। मेरे लिये तो वे स्रोत थे। स्रोत को हम ईश्वर कहें या कुछ और, यह हमारी कल्पनाशीलता पर आधारित है। मेरे विचार में ईश्वर भी स्रोत नहीं है क्योंकि बाबूजी महाराज मज़ाक में कहा करते थे कि ईश्वर को भी जगह की ज़रूरत होती है, इसलिये ईश्वर से पहले जगह की रचना हुई होगी। आध्यात्मिक और धार्मिक आस्थाओं की दृष्टि से विचार करने पर यह बात निरर्थक लगती है। ईश्वर को जगह की क्या ज़रूरत है? उसे जगह क्यों चाहिये? लेकिन बाबूजी ने कहा कि ईश्वर को भी जगह की ज़रूरत होती है तो हमें सोचना चाहिये कि उनका इस बात से आशय क्या था? स्पष्ट रूप से ईश्वर को हमारे हृदय के अंदर जगह की ज़रूरत होती है।

हम लोग देश की विशालता, ब्रह्माण्डीयता तथा संपूर्ण ब्रह्माण्ड के बारे में सोचते रहते हैं कि ईश्वर का प्रकटीकरण इसमें ही होगा। लेकिन ईश्वर का प्रकटीकरण तो हमारे हृदय में होता है। हमारे माध्यम से ही यह दिव्यता प्रकट होती है और कार्य करती है।

इसलिये गुरुओं की आवश्यकता पड़ती है, अभ्यासियों की आवश्यकता पड़ती है - अच्छे हों या बुरे। एक मालिक, एक मिशन और एक पद्धति की आवश्यकता होती है। ईश्वर को बार-बार इस जगह की ज़रूरत पड़ती है और हमें यह जगह उसे देनी होती है। ऐसा भी नहीं है कि इस जगह की ज़रूरत उसको केवल एक बार पड़े। उसे हर समय इसकी ज़रूरत पड़ती रहती है क्योंकि वह है भी, और नहीं भी है। जब भी वह 'है भी' की स्थिति में आना चाहता है, उसे जगह की ज़रूरत पड़ती है। अब जगह मैं दूँ, आप दें। अगर जगह देने का काम कर लिया गया तो इसके बाद पिंजरा बंद हो जाता है। हमारे सेमीनार के दौरान हमारे गाँव का डाकिया भी खुश था क्योंकि उसके यहाँ भी मेहमान आये थे। इस दौरान उसकी कमाई भी हुई। मैंने सुना कि उसने अपने मेहमानों से कुछ सीखा भी, क्योंकि उसने

इस दौरान मद्यपान नहीं किया। कुछ तो लाभ मिला। अब देखने की बात है कि गाँव के डाकिये तक को कुछ न कुछ लाभ हो जाता है। कम से कम कुछ दिनों के लिये वह पीना छोड़ देता है। कुछ पैसा कमा लेता है। अपनी पत्नी को पीटना छोड़ देता है क्योंकि उसके गाँव में कुछ ऐसे लोग आये हुये हैं जिन्होंने अपने हृदय में ईश्वर को स्थान दे रखा है, अपना जीवन उच्चतर जीवन के लिये समर्पित कर रखा है ताकि वह इसमें निवास कर सके। मेरी राय में बाबूजी के इस कथन को कि ईश्वर को भी जगह की ज़रूरत होती है, हमें इसी प्ररिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये। हमें सार्वजनिक ईश्वर को व्यक्तिगत ईश्वर समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। ईश्वर मेरे हृदय में भी हो सकता है और कहीं और भी। फिर मेरा ईश्वर तो मेरे हृदय में ही रह सकता है। अब हम पूछेंगे कि यह मेरा ईश्वर क्या है? दरअसल, यह एक तात्विक सिद्धान्त या आत्मा है, जिसमें मेरे हृदय का वेधन करके इस पर अधिकार कर लेने की सामर्थ्य है और जो आंतरिक प्रकाश के रूप में मेरा मार्गदर्शन करने की क्षमता रखता है। वस्तुतः यही हमारा मालिक है।

मैं पिछले कुछ दिनों से ये बातें आपको बताना चाह रहा था। मैं दिन-प्रतिदिन बोलने के प्रति अनिच्छुक होता जा रहा हूँ, फिर भी कुछ दिनों से ये बातें मेरे अंतर में घुमड़ रही थीं, जिन्हें बाहर करना ज़रूरी था। मैं चाहता था कि इन अवधारणाओं से मैं छुटकारा पा लूँ क्योंकि मुझे अब इन अवधारणाओं की आवश्यकता नहीं रही। जिस व्यक्ति के अंदर आस्था हो, उसके लिये ज्ञान की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती। मुझे अब कोई वस्तु नहीं चाहिये क्योंकि वह मेरे हृदय में विराजमान है और मैं उसी के साथ प्रसन्न हूँ। पहले मैं सोचता था कि मैं जिस मकान का मालिक हूँ, उसमें वह किरायेदार के रूप में हैं लेकिन अब मुझे पता चला कि मकान का मालिक वह है, और मैं उसमें किरायेदार हूँ। मेरे लिये यह बहुत खुशी की बात है चूँकि अब मुझे इस घर की देखभाल भी नहीं करनी है। अब तो यह उनकी समस्या है। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग भी इस परम स्वतंत्रता की परम सुंदरता की स्थिति को पहचानने में समर्थ होंगे। जब तक आप इस स्थिति में नहीं आते, इसका अनुभव नहीं कर पाते, आप इसका अर्थ नहीं

समझ पायेंगे। मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप सभी के जीवन में ऐसा अवसर जल्दी आये।

धन्यवाद!

10
प्यार और मृत्यु

यहाँ हम लोगों ने प्रेम और मृत्यु पर काफ़ी चर्चा की। कुछ अभ्यासियों को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ है कि परस्पर दो विपरित विषयों को मैंने कैसे जोड़कर एक कर दिया। कुछ लोगों ने इस बात पर आक्रोश भी ज़ाहिर किया है कि प्यार और मृत्यु जैसे दो विपरीत विषयों को मैं जोड़कर एक कैसे कर सकता हूँ? इस सेमीनार का समापन करते समय मैं इस बात को फिर से स्पष्ट करना चाहूँगा कि प्यार और मृत्यु - ये दोनों विषय न केवल परस्पर संबंधित हैं बल्कि अभिन्न रूप से एक-दूसरे से जुड़े हुये हैं। जीवन और मृत्यु, दोनों में ही अनुशासन का होना परम आवश्यक है। इसी अनुशासन का दूसरा नाम है- प्यार।

आज जब मैं डोरिना और जेम्स के विवाह के संबंध में सोच रहा था, मेरे मन में कई विचार आये। आजकल विवाह में हमें *सिविल मैरिज* की औपचारिकता भी पूरी करनी पड़ती है। *मैरिज रजिस्ट्रार* के सामने जाना पड़ता है, उसके सामने कुछ कागज़ों पर हस्ताक्षर करना पड़ता है और अंत में यह भी कहना पड़ता है कि उसने हमारा विवाह करवा दिया। जबकि सच्चाई यह नहीं है। सच्चाई तो यह है कि वह केवल इस तथ्य का अंकन करता है कि दो प्राणियों ने विवाहित होकर साथ-साथ जीवन व्यतीत करना पसंद किया है। कई लोग आज भी कानूनी विवाह करना पसंद नहीं करते, लेकिन

कानूनी विवशताओं के कारण हम ऐसा करने को बाध्य हैं। वस्तुतः यह विवाह नहीं है। यह तो कुछ ऐसा कार्य है जिसे दो लोग मिलकर करने का निश्चय करते हैं, रजिस्ट्रार के पास जाते हैं और कहते हैं : हम आपके समक्ष अँगूठियों का परस्पर आदान-प्रदान करना चाहते हैं। आपकी उपस्थिति में वैवाहिक बंधन में बँधना चाहते हैं। वह कहता है : स्वागत है, बधाई है। आप कोई दो गवाह लेकर आइये। रास्ते चलने वाला आदमी भी चल सकता है। दोनों लोग, दो वैवाहिक मुद्रिकायें धारण करके चेहरे पर बनावटी मुस्कुराहट लिये कागज़ों पर हस्ताक्षर करते हैं, गवाहों के हस्ताक्षर करवाते हैं और फिर मुस्कुराहट लिये बाहर आ जाते हैं। यह सब क्या है – मेरी राय में तो सिर्फ़ स्वांग।

अपने आप से हमें पूछना चाहिये कि लोग हमारे सत्संग में ही विवाह करना क्यों पसंद करते हैं? वैसे तो मैं भी आग्रह करता हूँ कि यहाँ विवाह होने के बाद वे रजिस्ट्रार के यहाँ जाकर पंजीयन करवा लें जिससे कानूनी औपचारिकतायें पूरी की जा सकें। लेकिन यहाँ तो प्रश्न यह है कि लोग सत्संग में ही विवाह करना क्यों पसंद करते हैं? और तो और, मेरे पास ऐसे विवाहित युगल भी आते हैं जो आकर अपनी इच्छा प्रकट करते हैं कि पुनः आध्यात्मिक तरीके से उनकी शादी संपन्न करा दी जाये। मेरी राय में तो इन दोनों प्रकार की शादियों में केवल एक ही फ़र्क़ है – पवित्रता के सोच की। जहाँ पहला विवाह दूषित प्रकार का है, वहीं दूसरा विवाह केवल विवाह न होकर एक पवित्र गठबंधन है। मैं इस पवित्रता की धारणा पर अपने कुछ विचार आप लोगों के समक्ष रखना चाहता हूँ। दरअसल पवित्रता एक अनुभूति, एक आत्मिक अनुभव या एक मनोवृत्ति है जिसे हमें अपने अंदर विकसित करना चाहिये।

दृष्टान्त के तौर पर, जब प्रसाद को भूमि पर रख दिया जाता है तो आप कहते हैं : क्या हुआ? यहाँ तो बहुत बड़े-बड़े कालीन बिछे हुये हैं। यहाँ भारतीय घरों की तरह फर्श पर धूल, पानी, गंदगी थोड़े ही बिखरी पड़ी है। मेरा सोचना है कि प्रसाद को भूमि पर रखने के पीछे शायद स्वच्छता ही एक मात्र कारण नहीं है। यूरोप में तो पाखाने भी

स्वच्छ रहते हैं। इसका अर्थ यह तो नहीं है कि आप सण्डास के पात्र को ढक्कन से बंद कर उस पर प्रसाद रख दें। आख़िर ऐसी कौन सी बात है जो प्रसाद को वहाँ रखने से मना करती है, वस्तुतः यह पवित्रता के विचार के कारण है। इस प्रसाद में ऐसा कुछ पवित्र तत्त्व है, जिसे पतित मूल्यों से अनादृत करके दूषित नहीं किया जाना चाहिये। मैं नहीं सोचता कि कोई सण्डास के बंद पात्र पर सूप का कटोरा रखना चाहेगा। क्या आप दाँत माँजकर उस पर सूप का कटोरा रखकर वहाँ बैठकर सूप पी सकते हैं? अगर नहीं, तो प्रसाद का ही अनादर क्यों?

वस्तुतः यह पवित्रता का विचार ही है जिसके कारण कुछ वस्तुयें, कुछ स्थान, कुछ व्यक्ति पवित्र माने जाते हैं। हमें यह पवित्रता अपने दैनिक जीवन में लानी चाहिये। इसे केवल चर्चों, मंदिरों या कुछ विशेष अवसरों के लिये आरक्षित करके नहीं रखा जाना चाहिये। जो वस्तु पवित्र है, वह हमेशा पवित्र है, और जो दूषित है वह हमेशा दूषित है। पेरिस में मैं एक चर्च देखने गया, जिसे वे लोग पावन हृदय का चर्च कहकर पुकारते हैं। आख़िर उस हृदय में ऐसी क्या पावनता है और हमारे हृदय में ऐसी कौन सी अपवित्रता है? अंतर यह है कि एक हृदय – प्रेम, ईश्वरीय कृपा और दिव्य भावनाओं से परिपूर्ण है तथा हमेशा पर-कल्याण में रत् है, वह स्वयं के बारे में कुछ सोचता ही नहीं, जबकि दूसरा हृदय अवगुणों, भावुकता और स्वार्थीपन से परिपूर्ण है और केवल अपने बारे में सोचता है।

वैवाहिक संबंधों में हमें सर्वोपरि रूप से इस पवित्रता के सिद्धान्त को पुनर्विकसित करने का प्रयास करना चाहिये। चर्च की भाषा में इसे पवित्र विवाह कहा जाता है। विवाह बंधन में जुड़ने वाले भागीदारों को संबंध की इस पवित्रता को स्वीकार करना चाहिये और उन्हें यह भी समझना चाहिये कि यह दो व्यक्तियों के बीच का गठबंधन है। यह दो व्यक्तियों को शय्या संबंध बनाने का विधिसम्मत अधिकार प्रदान करता है – ऐसी बात नहीं है। यह तो विवाह के बारे में आधुनिक धारणा है। आधुनिक विचारधारा तो इससे आगे बढ़कर यह भी कहती है कि पहले

सब कुछ करके देख लो फिर जमे तो शादी करो। यह घोड़े के सामने गाड़ी जोतने जैसी बात है।

अगर प्रेम संबंध में पवित्रता की भावना है तो जब तक यह पवित्रता दो व्यक्तियों के मध्य एक स्थापित तथ्य बनी रहती है, उस प्रेम संबंध को दूषित नहीं किया जा सकता। उस पवित्र वातावरण में वे युगल वैवाहिक जीवन के समस्त पहलुओं के साथ स्वयं को संयुक्त करते हैं। यह तो तय है कि पवित्र भावना के साथ जो भी कर्म किया जाता है वह पवित्र ही होता है। उन कर्मों के फल भी पवित्र ही होते हैं। अगर प्रसाद खाकर हमारा स्व रूपान्तरित हो जाता है तो हमें यह सोचना चाहिये कि इसमें ऐसा कौन सा तत्त्व है जबकि प्रसाद में तो केवल कुछ किशमिश, कुछ मिठाई या कुछ चॉकलेट ही रहता है। आख़िर किशमिश में ऐसी कौन सी बात है जो इसे प्रसाद बना देती है? कुछ न कुछ तो है ही, और अगर आपने प्रसाद की महत्ता समझ ली, तो यह निश्चित है कि आप उसे भूमि पर नहीं गिरायेंगे और न ही इसे पैरों के नीचे कुचलेंगे। अब जो चीज़ प्रसाद में आ जाती है, वही चीज़ हमें अपने जीवन में लानी है। जब वह विशेष चीज़ हम अपने जीवन में ले आते हैं तो हमारा ख़ुद का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, वही हमारी जगह ले लेता है। एक तरह से देखा जाये तो हमारी मृत्यु हो जाती है। मेरा मतलब यहाँ शारीरिक मृत्यु से नहीं बल्कि वास्तविक मृत्यु से है, जिसमें ख़ुद के लिये हमारा अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

विवाह संबंध में यह तथ्य स्थापित होना चाहिये। पति को केवल पत्नी के कल्याण की चिन्ता रहनी चाहिये, ख़ुद की नहीं। उसे केवल देते रहना चाहिये, लेने की बात नहीं सोचनी चाहिये। आप ऐसे विवाह की कल्पना कीजिये जहाँ दोनों परस्पर एक-दूसरे को सब कुछ देना चाह रहे हों। ऐसे वैवाहिक गठबंधन में ही आप परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत हर व्यक्ति अगर केवल लेने पर ही तुल जाये तो वैवाहिक गठबंधन नरक बन जायेगा, निष्फल हो जायेगा। यह एक स्थापित तथ्य है कि देने वाला जितना देना

चाहता है, उससे अधिक आप नहीं ले सकते। आप इस स्थिति की कल्पना कीजिये। कोई भी व्यक्ति दूसरे की इच्छा के विपरीत उससे कुछ भी नहीं ले सकता। वैवाहिक संबंध के संदर्भ में यह सत्य है। अगर आप केवल ख़ुद के बारे में सोचें और केवल लेते ही रहें तो जैसे-जैसे यह मनोवृत्ति आपके अंदर स्थापित होती जाती है, वैसे-वैसे मिलना भी कम होता जाता है। इसके विपरीत अगर आप केवल देते ही जाते हैं तो निश्चय मानिये कि आप उससे कहीं ज़्यादा पाते जायेंगे, यही पवित्रता की अवधारणा है।

बाबूजी महाराज अकसर कहा करते थे कि मैं यहाँ बैठा हूँ, मुझे जितना चाहो लूट लो। लेकिन यह संभव कहाँ है? क्या कोई व्यक्ति कभी किसी व्यक्ति को लूट सकता है? बाबूजी कहते थे : अपना सब कुछ मेरे पास जो कुछ है उससे भी ज़्यादा मैं देने के लिये तैयार हूँ, लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि कोई योग्य शिष्य नहीं मिलता जो इसे ले सके। मेरी राय में तो अभ्यासियों की असफलता का एक कारण यह भी था कि वे उनके पास बिना इस पवित्र धारणा को धारण किये ही चले जाते थे। अब यह तो निश्चित है कि जिस व्यक्ति से आपको कुछ पाना है, उसके प्रति आपको अपने मन में कुछ आदर का भाव तो रखना ही चाहिये, और फिर जिससे आप इतना कुछ पाने की आशा रखते हैं जिसका लेखा-जोखा तक रखना मुश्किल है, जिसके बारे में आप जान तक नहीं सकते कि आपको क्या कुछ मिल गया है, उसके प्रति तो आपको पूर्ण समर्पण का भाव रखना पड़ता है। आप सोच सकते हैं कि आख़िर प्रेम-संबंध में ऐसा क्या मिल जाता है जो आपको इतना आनन्दित कर देता है? यह और कुछ नहीं दूसरे का प्रेम है। अगर बाबूजी इतना देते रहे और फिर भी देने का भाव बनाये रख सके - केवल देना ही देना, तो इसका कारण केवल इतना है कि उनका जीवन केवल देने को ही समर्पित था। उनके लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं था कि कोई उनके साथ कैसा व्यवहार करता है? अभ्यासियों की

मनोवृत्ति चाहे जैसी भी रही हो, उन्होंने केवल उन्हें देने का ही प्रयास किया – आजीवन वे उन्हें शिक्षा का दान करते रहे।

मेरी राय में प्रसाद एक सिद्धान्त है जिसकी वजह से हलवा प्रसाद बन जाता है। लेकिन हमारे सामने प्रश्न यह है कि हममें कितने लोग ऐसे हैं जिन्होंने इन 25 सालों में इस अंतर को समझने की कोशिश की है और कितने ऐसे हैं जो सचमुच इस अंतर को समझ पाये हैं? हममें से अधिकांश आज भी प्रसाद को हलवा समझकर ही खाते हैं। सौभाग्य से कुछ ऐसे लोग भी हैं जो प्रसाद को कोई ख़ास चीज समझते हैं। शायद वे यह भी समझते हैं कि यह उनके रूपान्तरण का एक साधन है। इसी प्रकार जब दो व्यक्तियों में परस्पर प्रेम रहता है और यह प्रेम सच्चा होता है – चाहे वे पति–पत्नी हों, पिता–पुत्र हों, माँ–बेटी हों या गुरु–शिष्य हों, तो स्वत: ही परस्पर आदर, समादर, प्रशंसा और शायद पूजा की भावना भी विकसित होने लगती है। यह एक तथ्य है कि मित्रता की परिपक्वता से प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम की परिपक्वता से उपासना उत्पन्न होती है। उपासना की प्रबलता से पूजा, पूजा से समर्पण और इसके उपरान्त स्व का लोप हो जाता है।

वस्तुत: प्रेम का मतलब है मृत्यु। जब प्रेम में हमारा अस्तित्व विलीन हो जाता है तब यह सोचना कि मुझे जिन्दा रहना चाहिये जिससे मैं प्रेम का आनन्द ले सकूँ, उसमें नहा सकूँ, डूब सकूँ, मनोविज्ञान की भाषा में आत्ममुग्धता है और कुछ नहीं, और यह विनाशकारी है। मेरी राय में तो यह कहना कि प्रेम और मृत्यु एक–दूसरे से जुड़े हुये हैं, से भी ज्यादा यह कहना उपयुक्त है कि प्रेम ही मृत्यु है। जब भी आप सच्चा प्रेम करते हैं, हमेशा उसकी चाहना में ही रहते हैं, हमेशा उसी के बारे में सोचते रहते हैं। उसी का अस्तित्व बचा रहता है, आपका ख़ुद का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। प्रेम ही सार तत्त्व को आकार प्रदान करता है। आपने प्रकाशपुंज में नाचते हुये धूल के कणों को देखा होगा। वस्तुत: यह प्रकाश है जो इन धूल के कणों को आलोकित करता है। अगर धूल का कण यह सोचने लगे कि मैं कितना सुंदर हूँ, भव्य

प्रकाश में आलोकित हो रहा हूँ तो यह सोचते ही वह प्रकाश पुंज से बाहर हो जायेगा और फिर एक बार गुमनामी के अँधेरे में खो जायेगा। मिट्टी से निकला कण फिर से मिट्टी में मिल जाता है। प्रेम की हवा का एक झोंका आता है, जो धूल में एक गुबार पैदा कर देता है। यह गुबार उस धूल के कण को छोटे से बगूले में लपेटकर चक्कर खिला देता है और यह कण आनन्द के साथ पगडण्डी पर नाचता हुआ चल देता है। ग़ौर करने पर आप पायेंगे कि एक उल्टे शंकू की तरह, अपनी ही गति में मदमत्त, अपने चलने की सामर्थ्य के नशे में चूर हवा के नृत्य के साथ यह स्वयं भी नृत्य करता रहता है। अब अगर यह धूलिकण यह सोचने लगे कि मैं कितना अद्भुत हूँ, हवा बंद हो जाती है और वह धूलिकण फिर अपनी पगडण्डी पर वापस आ जाता है। उसकी सारी ऐंठ समाप्त हो जाती है।

जीवात्मा पदार्थ का अधिग्रहण कर पदार्थ को अपने लायक बनाती है और स्वयं रहने के लिये उससे एक शरीर का निर्माण करती है और हम एक शरीर के स्वामी बन जाते हैं। शरीर चाहे जैसा हो - गोरा, काला, लम्बा, ठिगना, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। जैसे ही हमारे अंदर यह विचार जन्म लेता है कि यह शरीर कितना अद्भुत है, कितना सुंदर है, कितना आकर्षक है, अहंकार की क्रीड़ा आरम्भ हो जाती है, स्वयं के प्रति आत्ममुग्धतापरक प्रेम पैदा हो जाता है, स्वार्थीपन आ जाता है और प्रेम जीवन से विदा हो जाता है। यही कारण है कि इस संसार में प्रेम देखने को नहीं मिलता। हर आदमी मैं-मैं की गुहार लगाता रहता है। हमें इस पर ग़ौर करना चाहिये कि वह कौन सी वस्तु है, जिससे जीवन में पुनः प्रेम का परमानन्द, प्रेम की महिमा, प्रेम के भावातीत अनुभव और अंततः प्रेम का अतिक्रमण करके स्व के भाव का तिरोधान, स्व के लिये मृत समान होने की स्थिति पैदा की जा सकती है? बाबूजी ने अपनी आध्यात्मिक शब्दावली में इसी को जीवन-मृत्यु या मृत रहते हुये जीना कहा है। इस स्थिति को पैदा करने के लिये आख़िर हमें किस चीज़ की ज़रूरत है? इसके लिये ज़रूरी

है कि पहले हम अपने प्रेम-पात्र को अपनी धारणा में सर्वाधिक प्रेयस बनायें। यही कारण था कि प्राचीन परम्परा में मंदिरों और मूर्तियों का सौंदर्यीकरण किया जाता था। मूर्ति को गहनों, रेशमी वस्त्रों और पुष्प-मालाओं से सजाया जाता था। दुल्हन को सुंदर वस्त्रों से क्यों सजाया जाता है? दूल्हा दाढ़ी बनाता है, सुगंध लगाता है और परिधान पहनता है - आख़िर क्यों? इसलिये चूँकि प्रेमी को अपने प्रेम-पात्र के समक्ष पूर्ण समर्पण के भाव में नत रहना चाहिये। फ्रांसीसी भाषा में इसका आशय आज्ञापालन से है लेकिन यहाँ इसका मतलब पूजा के लिये नत रहना है। वस्तुतः प्रेम ही पूजा है। जहाँ पूजा का भाव होगा, वहीं प्रेम का भाव भी होगा। मैं यहाँ यह बताने नहीं जा रहा हूँ कि प्रेम और पूजा में श्रेष्ठ कौन है, क्योंकि श्रेष्ठता और निम्नता ये दोनों तो सांसारिक मापदंड हैं।

ग़िफ़्ट् ऑफ़ मैगी नाम की एक कहानी है जिसमें मैगी की आराधना के दर्शन होते हैं। दोनों प्रेमी वहाँ कपूर, लोभान या इसी तरह की वस्तु उपहार में नहीं लाते बल्कि वे एक-दूसरे को अपनी प्रेममय संगति, समझ एवं हार्दिक शुभकामनाओं का उपहार देते हैं। जब कोई आदमी अपने घर के दरवाजे पर आता है तो वह कोई न कोई वस्तु उपहार में लेकर आता है। यह सोचना ग़लत है कि ईसामसीह बचपन से ही इतने महान थे कि पूरब से तीन लोग उनकी उपासना करने आये। ये तीनों लोग ईसा में विद्यमान दिव्य संभावना की उपासना करने आये थे। वे यह आशीर्वाद देने आये थे कि जो कुछ भी तुम्हारे अंदर है, उसे तुम आगे बढ़ाओ, इसे प्रकट करो। इसे आलोकित करो। भले ही यह शूली द्वारा तुम्हारी मृत्यु का कारण बने। मेरे मत में ईसामसीह बचपन में पूज्य नहीं थे। हो सकता है कि मेरा यह मत ईसाई धर्म की आध्यात्म संबंधी धारणा के विरुद्ध हो। जो तत्त्व हमारे अंदर छिपा हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति द्वारा ही हम नैसर्गिक रूप से प्रदत्त जीवन मूल्यों की संभावना को साकार कर सकते हैं। हर बच्चे में दिव्य संभावना विद्यमान रहती है। ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो किसी बच्चे को किसी दूसरे बच्चे

से अधिक दिव्य बनाये। ईसा को अगर किसी चीज़ ने दिव्य बनाया, तो वह थी उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि, उनका स्व का निषेध, दूसरों का कल्याण करने की कला में उनका पारंगत होना, दूसरों के प्रति उनका समर्पण-भाव और दूसरों के प्रति उनके अंदर की आत्मोत्सर्ग की भावना। ये ही वे बातें थीं जिसने उनको इतनी दिव्यता प्रदान की। जन्म से ही उनके अंदर कुछ अलग था - यह बात मुझे नहीं जँचती। लेकिन दुर्भाग्य से ईसाई धर्म सही तथ्यों को रहस्यों के आवरण में ढँकने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि ईसाई धर्मशास्त्र में ईसा द्वारा कुँआरी माँ के गर्भ में जन्म लेने की मूर्खतापूर्ण बात कही जाती है।

मुझे कभी-कभी इस बात की शंका होती है कि आजकल हमारी स्त्रियों के साथ पश्चिमी समाज में जिस तरह का अमावनीय आचरण किया जाता है उसके पीछे कमोबेश ईसाई समाज की यही धारणा कारण के रूप में तो काम नहीं कर रही है? ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा अगर सामान्य बालक की तरह किसी शादीशुदा औरत के गर्भ से जन्म लेते, तो कोई ख़ास बात नहीं होती। इसलिये ऐसा दिखाया गया कि उन्होंने कुँआरी माँ के गर्भ से जन्म लिया। यह मेरी समझ में उनके जन्म को मानवेत्तर बनाने का प्रयास था। दूसरी तरफ इससे स्त्री जाति कलंकित भी होती है। स्त्रियों को असुंदर, मलिन और उपभोग की जाने वाली वस्तु के रूप में देखा जाता है। मेरे हिसाब से तो स्त्रियों की इस दुर्दशा के लिये पूरी तरह से चर्च ही दोषी हैं। अगर आज पुरुष, स्त्री को सामग्री के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता तो स्त्री जाति के प्रति इस अन्याय का उत्तरदायित्व एक निश्चित सीमा तक ईसाई धर्मशास्त्रों पर भी है - यह मेरा विनम्र मत है। आख़िर आप किसी स्त्री से प्रेम कैसे कर सकते हैं? उसकी पूजा-आराधना कैसे कर सकते हैं? आप तो केवल उसका उपभोग कर सकते हैं। ईसाईयत की मान्यता के अनुसार ईसामसीह ने अपनी माँ का केवल उपयोग किया। यह अलग बात है कि वे उसे आज भी माँ मरियम या दिव्य माता मानते हैं। अगर ऐसा ही था तो फिर सामान्य मानवों की भाँति ईसा का जन्म भी किसी सामान्य प्रसव

से ही क्यों नहीं माना जाता? मेरा मानना है कि किसी व्यक्ति को दिव्य प्रमाणित करने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति को कलंकित नहीं किया जाना चाहिये। यह कहाँ का न्याय है कि शिशु को दिव्य बनाने के लिये उसकी माँ को शैतान घोषित कर दिया जाये? एक को कुलीन बनाने के लिये दूसरे को पतित बना दिया जाये?

आध्यात्मिकता में तो हम यह रहस्य पाते हैं कि यहाँ सेवक का अभिमान अर्जित किये बिना भी हम सेवा कर सकते हैं। बाबूजी महाराज अक़सर कहा करते थे कि हम सेवा ज़रूर करते हैं लेकिन किसी के सेवक नहीं हैं। सेवक या तो धन के लिये या अपना अस्तित्व बचाने के लिये या फिर भय के कारण सेवा करते हैं। जबकि आध्यात्मिकता में हम प्रेम के वशीभूत होकर सेवा करते हैं। दाम्पत्य जीवन में भी सेवा के पीछे यही भावना होनी चाहिये। पत्नी प्रेम के वशीभूत होकर पति की सेवा करे और पति भी प्रेम के वशीभूत होकर ही पत्नी की सेवा करे। अगर पति व्यस्त है और पत्नी उसके जूतों पर पॉलिश लगा देती है तो इसमें हर्ज़ क्या है? भारत में यह रोज़ ही होता है। लेकिन यहाँ के लोग कहेंगे : अरे! यह भी कोई बात हुई? कारण यह कि आपके जीवन में यहाँ विरोधाभास बहुत है। एक ओर तो आपका, स्त्री जाति के प्रति कोई प्रेम नहीं है, कोई आदर नहीं है, दूसरी ओर आप उन्हें रेशमी वस्त्रों में लपेटकर गालों पर लाली चूपड़कर ओर अधरों पर लिपस्टिक लगाकर, हीरे, सोने और रेशम से मढ़कर उसे एक ऊँची चौकी पर बिठा देते हैं। आख़िर यह सब किसलिये? अपने आनन्द के लिये ही न? मेरी राय में तो इस संपूर्ण व्यापार में प्रेम का कोई मतलब ही नहीं है। यह सब निरा स्वार्थ है। मेरी पत्नी सुंदर सलोनी है, भले ही मैं उसके लिये एक गिलास पानी ले जाऊँ लेकिन उसे मुझे पानी देने के लिये बिलकुल न उठना पड़े। स्त्रियाँ केवल सजकर बैठी रहें। जब कोई उनसे परिचय करने आये तो वे अपना ढीला-ढाला हाथ नज़ाकत से उसकी ओर बढ़ा दें। आख़िर वे कोमलांगी जो हो जाती हैं। लेकिन बाद में सामाजिक समागम से दूर होते ही क्या होता है? अगर मैं कहूँ कि उसके साथ

बलात्कार होता है, तो अतिशयोक्ति न होगी। यह शरीर मेरा है, यह मेरे आनन्द की वस्तु है। यह मेरी शय्या है, मेरी रेशमी चादर है, मेरे रेशमी वस्त्र हैं, मेरे गुलदान हैं। इन सब पर मेरा स्वताधिकार है, यहाँ कितना विरोधाभास दिखता है। प्रेम का रूप देखिये! एक तरफ तो हम अपनी प्रेमास्पद वस्तु को सुंदर बनाकर जनता के सामने प्रदर्शित करते हैं, फिर उसी वस्तु को एकांत क्षणों में आप लज्जाजनक एवं अश्लीलतापूर्ण उपयोग में ला रहे हैं। तथाकथित आधुनिक प्रेम की यही त्रासदी है। यहाँ की स्थिति ऐसी है कि आप एक–दूसरे की कीमत पर भी जीना चाहते हैं। इसलिये यहाँ प्रेम का अर्थ मृत्यु नहीं है – जीवन है। आज दाम्पत्य जीवन में किसी प्रकार की कोई पवित्रता नहीं रह गयी है। यहाँ केवल दर्प दलन की बात की जाती है। एक व्यक्ति को दूसरे की स्वेच्छाचारिता के भरोसे छोड़ दिया जाता है। ऐसा प्रेम फले–फूले तो कैसे? दास तो हमेशा अपनी दासता की बेड़ियों को तोड़कर दूर भागना चाहेगा। इसके लिये आप दास को दोषी नहीं ठहरा सकते। सारा इतिहास गवाह है कि दास लोग अपनी दासता की जंजीरों को तुड़ाकर भागते रहे हैं। भले ही भागने की इस प्रक्रिया में उन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़े। आज लोग विवाह बंधन तोड़ रहे हैं, दूर भागने का प्रयास कर रहे हैं और इस प्रक्रिया में मर भी रहे हैं।

इन तथ्यों पर ग़ौर करने पर हम पाते हैं कि अगर हम प्रेम में नहीं मरते तो फिर भिन्न तरीके से मरते हैं – भय से, घृणा से, दुःख से, संताप से। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है। एक मृत्यु महिमामयी, पूज्यनीय, प्रेम से परिपूर्ण है तो दूसरी मृत्यु महिमाहीन, कष्टपूर्ण, संतापपूर्ण और आत्मविनाशक है। ईसाई लोग कहते भी हैं कि मृत्यु, सौन्दर्य से परिपूर्ण होती है। जब हम अपने बच्चों में और स्वयं अपने अन्दर पवित्रता की भावना का पोषण करना चाहते हैं, उनमें पवित्रता की मनोवृत्ति लाना चाहते हैं, तब हमें केवल इतना करना होता है कि हमारे अंदर हमारी प्रेमास्पद वस्तु को पूजने की भावना बनी रहे, हम अपने प्रेमास्पद की आराधना करें, उस पर समर्पित हो जायें और अंततः उस पर अपने प्राण भी न्योछावर कर

दें। वस्तुतः हम एक ऐसी मृत्यु की खोज में हैं जो मृत्यु से भी परे है। दरअसल यह मृत्यु नहीं रह जाती। हम बिना प्राण तजे ही मर जाते हैं। हमारे लिये मृत्यु का अब कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। हमारे शाश्वत जीवन के सुनहरे पटल से मृत्यु का नामोनिशां मिट जाता है। जब हमने स्वयं ही मृत्यु का वरण कर लिया है तो फिर मरने का प्रश्न कहाँ पैदा होता है? ऐसे व्यक्तियों को मृत्यु का कोई भय नहीं होता। चूँकि ऐसे व्यक्ति कभी मरते नहीं, इसलिये उन्हें अमर कहा जाता है। उनकी उपस्थिति हमेशा बनी रहती है। उनका प्रेम कभी नहीं बुझता। उनके प्रेम की लौ को कभी बुझाया नहीं जा सकता। क्योंकि वे अब प्रेम नहीं करते बल्कि स्वयं ही प्रेम हो गये हैं। देखिये! प्रेम और मृत्यु में कितना निकट का संबंध है। प्रेम में मर जाने का अर्थ है – शाश्वत जीवन, जबकि स्वयं के बारे में सोचते हुये मरना, स्वार्थीपन में मरना, स्वयं की शान-शौकत में मरना शाश्वत रूप से मर जाना है। इस तरह हम पाते हैं कि एक मार्ग जहाँ हमें अमरत्व की ओर ले जाता है, वहीं दूसरा मार्ग हमें नरक़ में ले जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे शाश्वत पुनरावृत्ति की संज्ञा दी है। यह पुनरावृत्ति तब तक होती रहती है, जब तक हम प्रेम करना, बलिदान करना और प्रेम पर मर जाना नहीं सीख लेते।

मैं सोचता हूँ कि कम से कम विवाह के अवसर पर तो हमें इन बातों को ग़ौर से समझ लेना चाहिये। यह हमारे लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है, इसलिये इन्हें हमें अपने जीवन में उतारने का प्रयास भी करना चाहिये। उन जीवन मूल्यों का हमें पोषण करना चाहिये। हमें चाहिये कि हम पहले इनकी जिज्ञासा करें, इन्हें प्राप्त करें, इनका पोषण करें, फिर अपने अंतर में इनको बढ़ाने का प्रयास करें और हम इन्हें तब तक बढ़ाते जायें, जब तक ऐसा न हो जाये कि ये जीवन-मूल्य ही हमारे जीवन में बचे रह जायें, बाकी सभी चीज़ों का अस्तित्व हमारे जीवन से समाप्त हो जाये। व्यक्तियों के परलोक सिधार जाने के बाद भी इन जीवन-मूल्यों का मान यथावत् बना रहता है। आजकल जब लोग मरते हैं, अपने पीछे अपना नाम हो – इस ख़याल से

अपनी पुस्तकें, अपनी मूर्तियाँ, पत्थरों पर खुदा हुआ अपना नाम, छोटे-मोटे अख़बार में छपी हुई सुर्खियाँ छोड़ जाते हैं। जबकि शाश्वत जीवन के लिये इन चीज़ों का कोई महत्त्व नहीं होता। आज हम यहाँ बाबूजी की उपस्थिति का अनुभव कर पा रहे हैं और यह भी तय है कि आगे भी शाश्वत रूप से हम उनकी उपस्थिति का एहसास करते रहेंगे क्योंकि उनकी उपस्थिति ओर कुछ नहीं बल्कि उनका प्रेम ही है। उनका जीवन बलिदानी था। अपने प्रेम और बलिदान का दर्शन कराने के लिये ही उन्हें मानव शरीर धारण करना पड़ा। उनका जीवन केवल इसलिये था कि हम इन मूल्यों को अंगीकार कर पाने की शिक्षा प्राप्त कर पायें, अपने अंतर में इन मूल्यों का हम संवर्द्धन कर सकें। वस्तुत: उनके जैसा बनने के बाद हमें शरीर की ज़रूरत नहीं रह जाती, आत्मा इसे छोड़कर चल देती है। यह रहस्य कि मिट्‌टी का शरीर मिट्‌टी में ही मिल जाता है, यहाँ आकर समझ में आता है।

धन्यवाद!

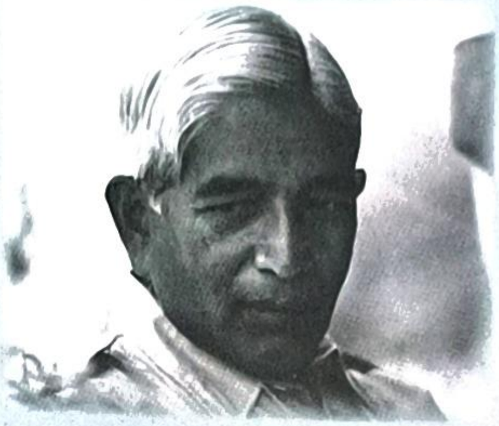

पूज्य श्री पार्थसारथी राजगोपालाचारी जी (1927-2014) समृद्ध पूर्वी संस्कृति में बड़े हुए यद्यपि उनकी शिक्षा पश्चिम के वातावरण में हुई। वर्ष 1992 में उन्होंने डेनमार्क के आश्रम का उद्घाटन किया। इस पुस्तक में उनके द्वारा वहाँ पर दी गयी असाधारण और अद्भुत वार्तायें संकलित हैं। उनका मानना है कि प्रेम और मृत्यु में अत्यन्त निकट का संबंध है। जीवन और मृत्यु दोनों में ही अनुशासन का होना परम आवश्यक है। इसी अनुशासन का दूसरा नाम है - प्रेम।

हमारे प्रशिक्षण केन्द्रों के स्थान एवं सूचना हेतु
www.sahajmarg.org

Hindi ₹ 150

ISBN 978-93-84963-27-9

9 789384 963279 2194

स्पिरिचुअल हायरार्की पब्लिकेशन ट्रस्ट,
कोलकाता - 700 027
के लाइसेन्स के अन्तर्गत प्रकाशित